

अवतरणिका-प्रस्तार

सन्मनोऽलिब्रजोद्गीतमिन्दिरानन्दमन्दिरम् ।

गङ्गोत्तुङ्गरसं वन्दे श्रीगोविन्दपदाम्बुजम् ॥

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्त-सुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसातयेऽनिशम् ॥^१

[उन श्रीकृष्ण के प्रति हम सतत प्रणाम निवेदित करते हैं जो सत्-चित्-आनन्द के घन-स्वरूप हैं, जो सब ओर अनन्त सुख बरसाते हैं, इसी स्वरूप-स्वभाव के कारण जो विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं निरोध के मूल हेतु हैं, उन की नित्य सेवा-रूप भक्तिरस पाना ही हमें अभीष्ट है।]^१

श्रीरूपस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतमतिरहं नौमि भूमौ निपत्य,
श्रीराधाकृष्णलीलामृतसलिलनिधौ मज्जिता येन लोकाः ।
श्रीमच्चैतन्यचन्द्रोऽप्यतिशयकृपया यत्र शक्तिं प्रकाशय
श्रीमद्वृन्दावनीयं मधुररतिरसं दर्शयामास सर्वान् ॥^२

[श्रीरूप गोस्वामी के चरणकमल में प्रणत मति से मैं भूमि पर (दण्डवत्) लोट कर प्रणाम करती हूँ, जिन्होंने (देख पाने के सौभाग्य से सम्पन्न) लोगों को श्रीराधाकृष्ण के लीलामृत-सागर में निमग्न किया, जिनके भीतर अतिशय कृपा-पूर्वक निजशक्ति प्रकाशित करके श्रीचैतन्यचन्द्र (चिन्मय आह्लादक-स्वरूप) ने श्रीमद्वृन्दावन के मधुर-रति-रस का दर्शन सबको कराया।]

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं इसके प्रणेता श्रीरूप गोस्वामी दोनों पर विस्तृत विचार इस द्वितीय खण्ड में करने का सङ्कल्प था; उसकी पूर्ति करवा लेने के लिये स्वयं 'रस' की स्वरूप शक्ति 'भक्ति' की कृपा तथा उस 'भक्तिरस' का स्वाद पिपासुओं को सुलभ करा देने वाले श्याम-मेघ के चातक भक्तवृन्द की कृपा पाने की चाह है।

प्रथम खण्ड की अवतरणिका में कहा जा चुका है कि अग्रज एवं गुरुवर्य श्री सनातन एवं अनुज शिष्य श्रीरूप-दोनों गोस्वामी-अग्रणी स्वयं संस्कृत भाषा तथा विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ प्रौढ़ पण्डित थे ही, फिर श्री चैतन्यदेव द्वारा उनमें विशेष रूप से जो रस-सञ्चार हुआ था, उस रस के परिपाक में 'विदग्ध' थे। श्री चैतन्य महाप्रभु की ही प्रेरणा पा कर श्रीरूप ने 'गोविन्ददेव

^१ श्री स्कन्दपुराणान्तर्गत भागवतमाहात्म्य का प्रथम पद्य (श्रीव्यासोक्त)

^२ यह अज्ञातकर्तृक पद्य हमें पूज्यपाद म०म०श्री गोपीनाथ कविराज जी के निजी प्रकीर्ण लेखनों 'notes' में से प्राप्त हुआ था, प्रस्तुत प्रसङ्गानुरूप होने के साथ ही उन्हें सविशेष प्रणाम-सहित स्मरण करने हेतु इसे यहाँ लिया गया है।

के स्वर्णमन्दिर' -तुल्य वाङ्मय की रचना की और अठारह ग्रन्थों की जो रत्नमाला भक्ति-विज्ञान को पहनाई, उसमें मध्यमणि हैं—'श्री भक्तिरसामृतसिन्धु', 'श्री उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'नाटकचन्द्रिका'। ये तीनों मिलकर इस परा-विद्या का सम्पूर्ण 'व्याकरण' प्रस्तुत करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में भक्तिरस के प्रतिपादन के संक्षिप्त इतिहास तथा उसमें श्रीरूप गोस्वामी का स्थान जितना-सा देखा गया उससे यह स्पष्ट हो चुका है कि श्रीरूप के ग्रन्थों से पहले भक्तिरस की काव्यशास्त्र के अनुरूप व्याख्या के बहुत थोड़े, छिटपुट, शृङ्खलारहित, सामान्य ही प्रयत्न हुए थे। ब्रह्मविज्ञान अर्थात् अध्यात्म-धर्म के शास्त्रों का प्रतिपादन उस विषय को बहुत रूखा बनाये हुए था और काव्यात्मक रस-शास्त्र के ग्रन्थ केवल बाह्य लौकिक विषय-रस की ही बात कहते हुए से दिखते थे। इसीलिये भले ही उपनिषदों में ब्रह्म को ही 'आनन्द', 'भूमा-सुख', 'रस' आदि कहा गया और काव्य-नाट्य के रसास्वाद को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना गया, अर्थात् 'रस' का मूल अर्थ एवं पूर्ण आश्रय ब्रह्म ही है- यह समझ ज्ञान तथा काव्य दोनों धाराओं में समान थी, फिर भी इन दोनों के प्रतिपादन समान्तर चल रहे थे, दोनों के बीच सेतु नहीं बन पा रहा था। केवल श्रीरूप गोस्वामी ही ब्रह्म-विज्ञान की व्याख्या में लोकपरिचित काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण अनुकलन की बाधाओं पर विजयी हुए। इन्हीं के द्वारा भक्तिरस के विज्ञान की सुदृढ़मूलक, सुविस्तीर्ण, साङ्गोपाङ्ग निष्पत्ति तथा स्थापना हुई। अवश्य ही, उनके समकालीन दो महामनीषियों श्रीनारायण भट्ट एवं श्रीमधुसूदन सरस्वती की भक्तिरस-दर्शन-विषयक कृतियाँ क्रमशः 'भक्तिरसतरङ्गिणी' तथा 'भगवद्भक्तिरसायन' इस सन्दर्भ में अतीव महत्त्वपूर्ण हैं, फिर भी उतनी परिपूर्ण नहीं। श्रीरूप के उत्तरवर्ती मनीषियों में भी भक्तिरस-विज्ञान की रस-शास्त्रीय व्याख्या को विशद करने में किसी का वैसा मौलिक अवदान नहीं है।

अतएव भक्तिरसात्मक काव्यशास्त्र के अग्रणी ऋषि-रूप में श्रीरूप गोस्वामी अप्रतिम हैं, सुप्रतिष्ठित हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा दिखाए गए पथ में प्रकट हुई अन्य सभी शास्त्रीय कृतियाँ श्रीरूप के ही निरूपण तथा प्रतिपादन की पोषक टीका या व्याख्या जैसी हैं। श्रीरूप-प्रणीत ग्रन्थों में सिद्धान्त (लक्षण) तथा साध्य (लक्ष्य) का ऐसा प्रामाणिक, सटीक, विलक्षण प्रतिपादन है कि ये ग्रन्थ सम्पूर्ण भक्ति-शास्त्र के कीर्तिस्तम्भ-सदृश विराजमान हैं। इन का यथार्थ अध्ययन हो पाये तो निःसंशय कहा जा सकता है कि इन में प्रतिपादित चिन्तन-स्तरों के पार जाना (इन से आगे बढ़ना) बुद्धि के वश की बात नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की महत्ता तथा सनातन उपयोगिता गहराई से समझनी हो तो भारतीय अध्यात्मविद्या तथा उसमें गुँथे हुए मूलगामी दर्शन के आद्योपरान्त इतिहास के परिप्रेक्ष्य में श्रीश्री चैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रवर्तित दृष्टि-पथ का तथा उस पथ पर चलना चाहने वालों के लिये प्रेरित आचारसंहिता-तुल्य वाङ्मय का विहंगावलोकन अवश्य अपेक्षित है।

१. ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

यह सत्य-तथ्य प्रबुद्धों में सर्वमान्य है कि धर्म-अध्यात्म-चिन्तन के क्षेत्र में भारत प्राचीनतम है। परमतत्त्व तथा सृष्टि रहस्य को जानने एवं उससे अपना सम्बन्ध पहचानने के लिये असंख्य

पहलुओं से विचार होता चला आया। दर्शन एवं आचरण की अगणित विधायें यहाँ जन्मीं, पनपीं, परस्पर मिलीं-बिछुड़ीं, शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होती रहीं। देश-काल-व्यक्ति के भेद से तत्त्वविचार का सञ्चार-प्रचार होता रहा, उसी तरह आचार विविध प्रकार के नाम-रूप-रीति-मति-गति में विहार करता रहा—फिर भी इनमें से अधिकांश के मूल सिद्धान्त समान रहे। उनको प्रकट करने की शैली एवं व्यवहार देश-काल-युग के धर्मानुसार बदलते हुए आते-जाते रहे।

धार्मिक-आध्यात्मिक चिन्तन के इन सभी चढ़ाव-उतारों के चलते भी एक विलक्षण विशिष्टता सामने आयी कि किसी न किसी प्रकार से (अधिकतर अन्वय रीति से, कभी व्यतिरेक-रीति से भी—जैसे कि तथाकथित नास्तिक दर्शनाधारित बौद्ध-जैन आदि में^१) वेद (मनुष्य की व्यक्ति-मति से अतीत ज्ञान की प्रकाशक अपौरुषेय वाणी) का प्रामाण्य सभी ने स्वीकार किया।

'वेद' को केवल 'ऋषि'-दृष्ट मन्त्र-ब्राह्मण-उपनिषद् आदि में सीमित न मानते हुए भारतीय मनीषा ने 'निगम' एवं 'आगम' नाम से साथ-साथ चलने वाली दो सरणियों में पाया है। वस्तुतः ये दो परस्पर विलक्षण विधायें नहीं। ज्ञान का सिद्धान्त-पक्ष निगम है और प्रयोग/व्यवहार या क्रियात्मक पक्ष आगम है। अथवा निगम रूप में उपलब्ध सूक्ष्म ज्ञान का प्रकट व्यवहार में विनियोग किस प्रकार हो सकता है—यह दिखाने वाला विज्ञान है आगम; और—वेद का विस्तार करने की पद्धति है तन्त्र^२, जिसका पर्याय है आगम। इसका व्यापक अर्थ है अनुभव-परम्परा से प्राप्त शास्त्र तथा विज्ञान। वैदिक परिभाषा में—

“विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते” ॥ ईशोप० १/१

[विद्या (आत्मज्ञान) और अविद्या (कर्म-सम्बन्धी लौकिक ज्ञान) दोनों को जो एक-साथ जानता है वह लौकिक ज्ञान तथा शुद्ध कर्म द्वारा मरण-धर्मिता को पार करके विद्या (परमात्मबोध) द्वारा अमृत को चखता है।]

स्मृति —“ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा” (गी० ६/८) “ज्ञानं विज्ञानसहितम्” (गी० ९/१) पुराणशिरोमणि में—“ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्” (भा० २/९/३०) इत्यादि द्वारा सूचित अर्थ के अनुरूप तात्त्विक ज्ञान का व्यावहारिक विज्ञान-स्वरूप तन्त्र/आगम जीवन की समुन्नति तथा परम कल्याण के उपायों का शास्त्र है। इस प्रकार निगम और आगम परस्पर पूरक/उपकारक हैं। सरल भाषा में कहें तो निगम ज्ञानप्रधान हैं और आगम क्रिया या उपायप्रधान। स्वरूप को पहचानने की इच्छा ही दोनों का प्रवर्तक एवं जोड़ने वाला सेतु है। बौद्ध-चिन्तन की अभिव्यक्ति में “प्रज्ञा और उपाय के योग में ही आनन्द का उदय” है। आनन्द ही प्राणिमात्र का परम अभीष्ट है,

^१: सम्पूर्ण मूल बौद्ध-जैन-वाङ्मय का तटस्थ, उदात्त दृष्टि (खुली आँख) से अध्ययन करने पर यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि वे भी वस्तुतः वैदिक-सिद्धान्त-प्रामाण्य तथा तदाधारित इतिहास की उपजोव्यता से कभी छटक नहीं सके हैं। तथागत बुद्ध एवं अर्हत् महावीर ने स्वयं जो सत्य कहा था उसका मर्म ज्यों का त्यों ग्रहण-परिवेशन न करके अनुयायि-परम्परा ने अपनी 'पृथक् अस्मिता' बनाने की 'धुन' में कितना भी तोड़-मरोड़ कर आपाततः नये-नये रंग चढ़ाकर कहा हो, किन्तु इन सभी पन्थों के पुराने मूल वाङ्मय स्वयं प्रमाण हैं कि चेतना (दिल-दिमाग) पर वही मूल ज्ञान छाया रहा है।

^२: 'तनु विस्तारे' + ष्टन् = तन्त्र।

इसमें प्रत्यक्षादि ही नहीं, श्रौत ऋषि से चार्वाक-पर्यन्त सभी स्तरों के अनुभवी प्रमाण हैं। 'आनन्द' के रूप अवश्य उसे पाने की अभिलाषा के स्तर-भेद से विविध कहे-समझे जाते रहे हैं, तदनु रूप ही उपाय या पथ-भेद भी रहे हैं, किन्तु गम्य लक्ष्य सदा एक ही रहा है,

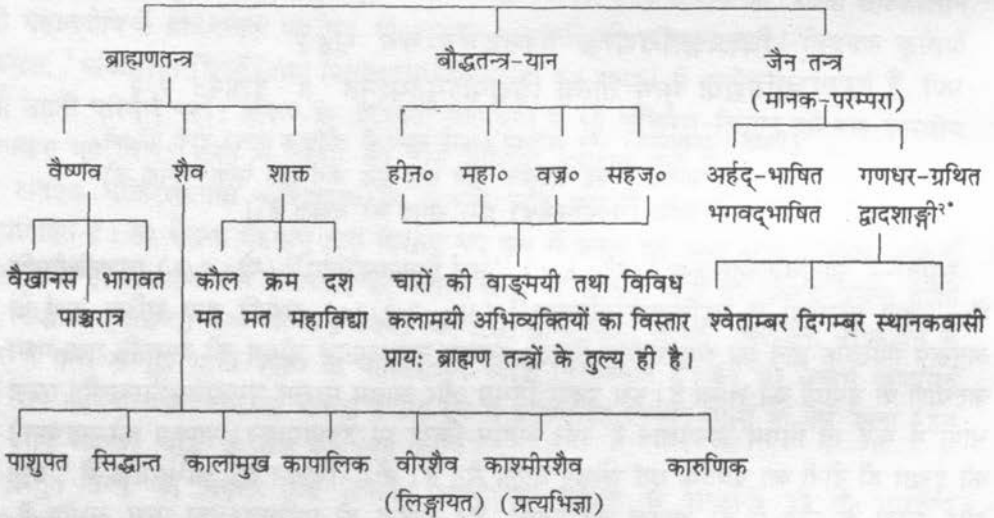
“रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।”

वह लक्ष्य है—अपूर्णताबोध-जन्य कष्ट से मुक्ति दिलाकर, पूर्णतानुभव-साधक आनन्दयोग।

इसी आनन्दात्मक लक्ष्य एवं योगात्मक उपाय का विवेचन करने वाले आगम आपाततः दो प्रकार के हैं—वेदमूलक तथा वेदक-मूलक*। यद्यपि सिद्धान्त तथा आचार का मूल स्रोत 'वेद' ही है; फिर भी पाञ्चरात्र एवं शैवागम के कुछ सिद्धान्त तथा शाक्त तन्त्र के सप्तविध आचारों में से एक (वाम) वेदबाह्य कहलाते हैं, इनमें अनुभवी (तथा अनुभव कराने वाले व्यक्ति) के वचन ही प्रमाण हैं।

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से तन्त्र/आगम प्रमुख रूप से तीन हैं; ये तीनों तथा उनके मुख्य प्रविभाग निम्नलिखित सारणी में देखें :

तन्त्रागम



(सभी ब्राह्मण तन्त्रों का विविध साहित्य अपार है। जिसमें अधिकांश संस्कृत में, कुछ प्रान्तीय भाषाओं में है।)

* वेद = ज्ञानमात्र/(अपौरुषेय); वेदक = ज्ञान कराने वाले अनुभवी व्यक्ति (प्रतिभा)।

** इन सबके अन्तर्गत अत्यधिक साहित्य संस्कृत तथा प्राकृतों में रचित है—(१) मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, कवच, स्तोत्र, सूत्र, कल्प, योग, व्याकरण, दर्शन, पूजा, अनुष्ठान, आचार तथा त्रिविध काव्य की आकृतियों में, (२) शिल्प, स्थापत्य, मूर्ति, अलङ्करण आदि स्थिर कलाओं से लेकर दैनिक एवं नैमित्तिक पूजा आदि में चली आती 'आंगी'-जैसी विविध सौन्दर्यमयी अभिव्यक्तियों में, (३) 'शान्तसुधारस' से लेकर 'अध्यात्मरास' जैसी विधाओं का साहित्य बना है। इन सब में जैनागम के बाह्य आचार की शुष्कता का प्रतिफलन हुआ है। अन्ततः 'रस'-मय अभिव्यक्ति पर्यन्त पहुँचना अनिवार्य रहा है।

इन सब के साथ-साथ स्मार्त तन्त्र (षड्देव-पूजक) एवं विविध पुराणों में चर्चित योग एवं तन्त्र थोड़े से भिन्न होते हुए भी इष्टदेव तथा उपासना-पद्धति के अनुसार प्रायः इन्हीं के अन्तर्गत रहते हैं।

इनमें प्रमुख रूप से वैष्णव आगम से ही प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के स्रोतमूल का विशेष सम्बन्ध है, यद्यपि उक्त सभी तन्त्रागमों में परस्पर आदान-प्रदान-सम्बन्ध रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मानव का मस्तिष्क और हृदय चेतना के स्तर पर एक ही है, देह में इन का आधार-स्थान भी वस्तुतः एकत्र है। (मानव या पशु के भी-मस्तक में ही ज्ञान, भावना, मनोभावों, संवेगों की स्थिति है, जिन्हें सजीव-कार्यक्षम बनाये रखता है नियमित-शुद्ध रक्त-सञ्चार। उस रक्त की शुद्धता, सत्-संस्कारिता से युक्त स्वास्थ्य का आधार है सम्पूर्ण इन्द्रियों द्वारा लिया जाने वाला आहार तथा किया जाने वाला व्यवहार।) अतः मूलतः मानव-मात्र की अन्तःकरणवृत्तियाँ समान हैं। देश-काल-परिवेश-शरीर के संस्कारों के अनुसार मनस् की रचना एवं बुद्धि की चिन्तन-सरणी विविध वेषों में, विविध आचार आदि में प्रकट होती है, किन्तु एक ही जाति के आकाश-वायु-अग्नि-जल-भूमि का सेवन करते हुए इन्हीं से गठित शरीरादि में से अभिव्यक्त होती हुई चेतना वस्तुतः भिन्न हो नहीं सकती।

विविध विकल्प-मेघों से रहित स्वच्छ आकाश देख सकने वाली खुली दृष्टि से देखें तो परम-अनुभव की अभिव्यक्ति सब से अधिक सुगम रीति से वैष्णव आगमों में (इन के भी सबसे ऊँचे शिखर जैसे श्रीचैतन्य-प्रवर्तित पथ में) हुई है। वैष्णव-दर्शन में परम तत्त्व, सृष्टि तथा जिज्ञासु का स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध सब से अधिक सुबोध एवं सरस है। क्योंकि यहाँ इन तीन (तत्त्व, अनुभव तथा जिसे अनुभव होता है) में सर्वथा भेद नहीं, पूरा-पूरा अभेद भी नहीं, और रहस्यात्मक भेद-अभेद को साथ-साथ समझाने वाली अनिर्वचनीयता (जिससे मिथ्यात्व को 'झूठ' मान लिया गया) भी नहीं। यहाँ परमतत्त्व के 'आनन्द'-स्वरूप का रसास्वाद प्रधान होने से उक्त तीनों की किसी स्तर में भिन्नता स्वीकार करते हुए भी तत्त्वतः उनका परस्पर अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त है। इस 'अचिन्त्य' शब्द से 'अनिर्वचनीय' 'मिथ्या' और 'मायिक' शब्दों के परम्परागत व्याख्यान से सामान्य जन में पनपी हुई झूठेपन की गन्ध मिट गयी। अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त में परम तत्त्व का 'अद्वय' होना प्रकट व्यवहार में कोई समस्या नहीं लाता और 'परम'-अर्थ से 'व्यवहार' का अद्वय-सम्बन्ध 'लीला' रूप में रसास्वाद का उत्कर्ष ही साधता है। फिर व्यवहार में सुविधा इतनी कि "जिस किसी भी प्रकार से, जैसे भी बन पड़े वैसे, मन को श्रीकृष्ण में लगा दें" - बस! बुद्धि-चित्त-वाणी और शरीर से यथासम्भव पूरी तरह अहिंसक रहते हुए, जीवमात्र के प्रति दया का आचरण करते हुए (क्योंकि यहाँ वास्तविक अद्वय तत्त्व को सर्वत्र देखा जा रहा है, सृष्टि में प्रत्येक वस्तु या प्राणी उसी की मूर्ति है, इसीलिये-) "तिनके से भी नीचा स्वयं रहते हुए, वृक्ष-लता आदि से भी अधिक सहनशील रहते हुए, स्वयं सर्वथा

अभिमान-शून्य हो कर सब को सम्मान देते हुए सदा-सतत श्रीहरि का कीर्तन करते रहना चाहिए।” यह आचरण होते हुए जब हृदय के सभी भाव^३ उस परम प्रिय^३ में जुड़ जाते हैं तब “अन्य किसी भी अभिलाषा से रहित चित्त में ज्ञान और कर्म आदि उपलक्ष्यों के आवरणों से न ढकी हुई वृत्ति से केवल श्रीकृष्ण का ही निरन्तर अनुकूल भाव से अनुशीलन होने लगता है, यही उत्तम भक्ति है।”^४

इसीलिये तब “जारबुद्धि से भी भलीभाँति जुड़े चित्त वाले”^५ जीवों का परम कल्याण सुनिश्चित है। शम-दम आदि छहों प्रकार की साधन सम्पत्ति हो या न हो, वेद-वेदान्तादि का अध्ययन-मनन-निदिध्यासन हो या न हो, परम पवित्र ब्राह्मण-क्षत्रिय कुलों में जन्म-संवर्धन आदि हो या भील, गँवार हो, रीछ की सन्तान (जाम्बवती) हो या नरकासुर द्वारा अपहरण की हुई राजकुमारियाँ हों, डूबता हुआ हाथी हो, नर्हीं टिटिहरी हो, या स्वयं को बंध कर प्राण-हरण करने वाला व्याध हो—सब की पुकार को समान रूप से स्वीकार करने वाले श्रीकृष्ण का नाम गाने (सङ्कीर्तन) के यज्ञ में सभी प्राणियों को समान अधिकार है,^६ और यह सब को परम पुरुषार्थ प्राप्त करा सकने वाला सुगम साधन है।

अनायास सभी भेदभाव मिटाते हुए सम्पूर्ण समग्रता से अद्वय-सिद्धान्त को प्रतिपल जीवन में जीना सिखाता है यह वैष्णव पथ, जो इस के संग्राहक (भलीभाँति ग्रहण कराने वाले) श्री चैतन्य महाप्रभु की जन्मभूमि के साथ जुड़कर ‘गौडीय’ नाम से प्रख्यात हुआ, जब कि स्वयं उन का तथा उनके हृदय को विश्व में प्रकट करने वाले गोस्वामी-गण एवं इस चैतन्यमत के अनुगामी अधिकतर भक्तवृन्दों के जीवन-कर्म का क्षेत्र प्रायः वृन्दावन-ब्रजमण्डल और जगन्नाथ-धाम रहा एवं दक्षिण होते हुए पश्चिम-भारत की यात्रा में बहुत-कुछ किया गया, मूलतः दक्षिण से ही आ कर बंगाल में बसे हुए प्रमुख पार्षदों (श्री सनातन-श्रीरूप-श्रीजीव) का शिक्षण प्रयाग तथा काशी में हुआ, श्रीगोपाल भट्ट की शिक्षा-दीक्षा उनकी किशोरावस्था में दक्षिण (श्रीरङ्गम्) में

१. “तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥”

—श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा स्वमुख से कहा गया वैष्णव-उपासना का बीजमन्त्र या सूत्र (शिक्षाष्टक, ३)

२. “यं क्रोध-काम-सहजप्रणयादि-भीति-वात्सल्य-मोह-गुरुगौरव-सेव्य-भावैः।

सञ्चिन्त्य तस्य सदृशीं तनुमापुरेते गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥”

—श्रीब्रह्मसंहितान्तर्गत गोविन्दस्तव-२७

३. “आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति”। -बृह० उप० २/४/५., वही ४/५/६...

४. “अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥” -भ०२०सिं०१/१/११

५. “तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।” -भ० १०/२९/११

६. आकृष्टिः कृतचेतसां सुमनसामुच्चाटनं चाहसाम्
आचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मुक्तिश्रियः।

नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्या मनागीक्षते,

मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः ॥ -शिक्षाष्टक ४

ही सम्पन्न हुई थी, उसी समय के निर्देशानुसार यथासमय वे वृन्दावन आ कर बसे। इन चारों प्रमुख ग्रन्थप्रणेताओं ने व्रज में रहते हुए ही आजीवन सेवा सम्पन्न की। श्री चैतन्यमहाप्रभु के इसी स्वरूप को श्री जीवगोस्वामी ने "स्वसम्प्रदायाधिपः" कह कर व्यक्त किया है। इसीलिये वस्तुतः इसे वैष्णव-आगम एवं दर्शन का "श्रीचैतन्य-सम्प्रदाय" कहा जाना चाहिये, इसे केवल 'गौडीय' कहना तथ्य की दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है।

वैष्णव चिन्तनधारा का उपलब्ध क्रम

उपलब्ध वाङ्मय की दृष्टि से वैष्णव चिन्तनधारा का ऐतिहासिक क्रम देखें तो वैदिक 'विष्णु' देवता तथा ऋषि नारायण^१ के एकार्थक होकर पर्याय होने में पाञ्चरात्र^२ का बीज निहित है। यहाँ ईश्वर के चार^३ कभी पाँच^४ रूप देखे गये—१. पर २. व्यूह ३. विभव ४. अर्चा तथा ५. हार्द = अन्तर्यामी। ईसा-पूर्वीय साहित्यिक तथा पुरातात्विक सामग्रियों में इन रूपों-संज्ञाओं के उल्लेख प्राप्त^५ हैं। पाञ्चरात्र का श्रौत मूल एकायन शाखा है, जो अब उपलब्ध नहीं। फिर भी उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पारमेश्वर संहिता, ईश्वर संहिता, विष्णु पुराण इत्यादि^६ में भलीभाँति उसके सङ्केत हैं।

वैखानस आगम का सम्बन्ध आदि स्रष्टा विखनस् (विष्णु तथा ब्रह्मा) से है। सम्प्रदाय रूप में वैखानस वैष्णव-देवालयों के अर्चक हैं, उनका सम्पूर्ण जीवन श्रौत उपासना-प्रक्रिया में समर्पित है। उनका व्यक्तित्व आदर्श वैष्णव रूप में सर्वथा शुद्ध, शान्त, भावितात्मा, सात्त्विकाहारभोजी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ रूप में वर्णित हुआ है। इनका विविध, विपुल वाङ्मय भृगु-कश्यप-अत्रि-मरीचि-कृत संहिता, सूत्र, काण्ड, अधिकार, तन्त्र, पुराण तथा अन्य भी अनेकों आकृतियों में है।

पाञ्चरात्र और भागवत मतों का पृथक् उल्लेख^७ मिलने पर भी इन दोनों की विभाजक रेखा व्यक्त नहीं है, और सर्वथा शुद्ध अहिंसक विनम्र आचार-व्यवहार-आहार आदि पथ्य-पालन में सभी वैष्णव मत समान हैं। भागवत-मत का समावेश सम्पूर्ण भक्ति-चिन्तन एवं सभी वैष्णवों के मूर्धन्य प्रमाण-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में हो गया है। ये त्रिविध वैष्णव संहितायें एवं अन्य मूल-

१. "महाभागवतकोटिबहिरन्तर्दृष्टिनिष्टिक्लितभगवद्भावं निजावतारप्रचारप्रचारितस्वरूपं भगवत्पद-कमलावलम्बिदुर्लभप्रेमपीयूषमय-गङ्गाप्रवाहसहस्रं स्वसम्प्रदायाधिदैवं श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेवनामानं श्रीभगवन्तम्..." -श्रीभागवतसन्दर्भ, प्रारम्भिक अंश।

२. ऋ० १०.९० सूक्त, यजु० ३.६२, ३०.३१, अथर्व० १९.६, १०.२

३. लक्ष्मीतन्त्र २.६०, ११.४१-४७

४. अहिर्बुध्न्य सं. १.६३-६५

५. विस्तृत सन्दर्भ के लिये द्र० "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास"—एकादश—खण्ड पृ० ६२-६९

६. वही, पृ० ७३

७. नित्याषोडशिकार्णव—सेतुबन्ध टीका प्रारम्भिक अंश में।

ग्रन्थ ही—दक्षिण के आलवार सन्त (जिनकी वाणी तमिल 'नालाइर'—दिव्यप्रबन्धम्*—में सङ्कलित हुई) श्रीयामुनाचार्य, श्रीनाथ मुनि आदि आचार्य, दक्षिण में श्री रामानुज, श्रीमध्व, श्रीनिम्बार्क, महाराष्ट्र में श्रीज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, बङ्गाल-उड़ीसा तथा व्रजमण्डल में श्री चैतन्य, दक्षिण से ही व्रज में आकर प्रतिष्ठित श्री वल्लभ—इन सभी वैष्णव-दार्शनिक सम्प्रदायों की उद्भावक भूमि हैं अर्थात् सभी के चिन्तन-प्रतिपादन-व्याख्यान का मूल आधार प्राचीन वैष्णव संहितायें एवं श्रीमद्भागवत ही हैं।

श्री चैतन्य-देव के आविर्भाव से पहले उत्तर-पश्चिमी भारत में सन्त कबीर जन-मानस में छाये। उन्होंने विविध भ्रमों को तथा धर्म-अध्यात्म के नाम पर पनप रही अनाचारों की काई को झिँझोड़ कर हटाया था। भ्रमजाल काटने में कभी उनकी 'निर्गुण' वाणी अस्त्र-शस्त्र जैसी तीखी रही, कभी रोग-निवारक औषधि जैसी कटु और रूखी भी, किन्तु मर्मग्राही साधकों-अध्यात्म-पथिकों के लिये उतनी ही रसगर्भित भी जितनी वैदिक ऋचाओं से लेकर आण्डाल (गोदावरी), मीरा एवं समान हृदय वाले सभी सन्तों की वाणी। ('निर्गुण'-पदावली में दोनों प्रकार के शृङ्गार-रस का रूपक भरा हुआ है जो तुमरी जैसी शृङ्गार-प्रधान संगीत-शैली में आज भी भरपूर गाया जाता है)।

इधर बङ्गाल में एक ओर मुस्लिम-शाही के भीषण प्रकोप से, दूसरी ओर साधना के नाम पर चल रहे—बौद्ध सहजयान तथा लक्ष्यभ्रष्ट शाक्तागम के विकृत सङ्कर के प्रसार से, साथ ही बहुविध अज्ञान के घटाटोप से जनजीवन अशान्त तथा क्षुब्ध था। इस सङ्कटपूर्ण स्थिति में भी जिनका 'तार' दिव्य प्रीति के स्वर में मिला हुआ था ऐसे श्रीजयदेव, चण्डीदास, विद्यापति जैसे कविकमल अवश्य बङ्गाल व मिथिला में रहते हुए भी हृदय से वृन्दावन में खिल रहे थे, किन्तु जनसामान्य त्रस्त था। वातावरण में युग-परिवर्तन का आह्वान था। ऐसे समय श्रीचैतन्यदेव ने अन्तःस्रोतस्विनी भक्ति को सबके लिये सुलभ रूप में प्रकट किया।

२. 'भक्ति' का मूल स्रोत तथा 'रस' पर्यन्त प्रवाह

“श्रद्धा माता मनुःपिता”^{१*} की सन्तति-रूपा भक्ति का जन्म ज्ञान और जिज्ञासा के समान अथवा

१*. 'दिव्यप्रबन्धम्'- परब्रह्म के सौलभ्य-आनन्दस्वरूपता के अनुसन्धान से प्रेम भक्तिसागर में मग्न वैष्णव सन्त तमिल भाषा में 'आलवार' कहलाये; उन प्रमुख बारह 'आलवारों' की प्रेमभक्ति का परिवाह तमिल भाषा में पद्य-माला के रूप में निकला; उन में चार हजार पद्य हैं। यह चतुः साहस्री चौबीस प्रबन्धों में विभक्त है। इन्हीं का मूल नाम 'नालाइर' फिर 'दिव्यप्रबन्धम्' संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ। ये तमिल कृतियाँ पं० श्रीनिवास राघवन् द्वारा देवनागरी लिपि में लाई गई, हिन्दी में अनुदित हुई, प्रो० रामसिंह तोमर द्वारा सम्पादित होकर हिन्दी-भवन, विश्वभारती, शान्ति निकेतन से हलवासिया शोध-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९८०-८९ तक आठ भागों में प्रकाशित हुई हैं। आलवार-वाणी में उत्तमा-भक्ति के मुख्य पाँचों रसों के अनुभव रूप-गुण-लीला-वर्णन में व्यक्त हुए हैं।

२*. साम सं० १. १. ९.

स्वयं मनुष्यजाति (मननाद् मनुष्यः) के समान अनादि है।^१ परम तत्त्व के प्रति अपना सम्बन्ध देखना और उस परम सम्बन्धी से साधिकार अपना अभीष्ट चाहना भी तभी से है—

“स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये ॥ (ऋ१.१.९)

अन्तःकरण द्वारा पहचाने गये सम्बन्ध की पहली अभिव्यक्ति होती है श्रद्धा (श्रत् हृदय में धारण), नमन-पूजन में—“अग्निमीळे पुरोहितम्” (वही १.) यास्कमुनि कृत व्याख्या में ‘ईद्’ का अर्थ है याचना, अध्येषण, पूजा; पाणिनि के अनुसार स्तुति अर्थात् गुणकथन, स्तव, प्रशंसा (कीर्तन); वही बनती है अहर्निश उपासना—

“उप त्वाग्ने दिवे दिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥” (वही ७.)

‘उस’ की पहचान आगे बढ़ती है तो सब ओर, सब में सर्वदा वह एक ही दिखता है—

“अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।

विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥”^२

(ऋ१.८९.१०)

‘उस’ से अपनापन अनुभव करता रहता है चित्त—कभी माता-पिता के रूप^३ में, कभी सखा^४ तो कभी जाया-पति के भाव में^५। यही पहचान कभी सब ओर आनन्द-मधु की प्रतीति जगाती है—

“मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः.....

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥”^६

(ऋ१.९०.६-८)

“ऐसा हो!” यह अभीप्सा रहती है। उसके अभिरूप जीवन की अभिलाषा व्यक्त होती है—

^१ भारतीय इतिहास-भूगोल-सृष्टिविज्ञान में जीव और जगत् अनादि हैं। काल-चक्र का कहीं प्रारम्भ नहीं। ‘अमीवा’ से लेकर मनुष्य-पर्यन्त उद्भिज्ज, अण्डज, स्वेदज, जरायुज-जातियों में चौरासी लाख प्रकार के शरीरों की एक साथ उपस्थिति यहाँ स्वीकृत है (क्रमशः विकास की अपेक्षा नहीं है)। इन सब में श्रेष्ठ है मनुष्य, क्योंकि उसमें सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप मूल तत्त्व की अभिव्यक्ति सबसे अधिक सम्भव है। इसी शरीर में ‘अहं’-बोध होने से कर्म करना सम्भव है। मनुष्य ही सामने आये विषयों में से ‘श्रेयान् या प्रेयान्’ को पहचान कर अपनी रुचि से चुन सकता है, फिर ऐसे कौशल से कर्म कर सकता है कि उस कर्म के आदि-मध्य-अन्त में आनन्द ही रहे, कर्म-परिणाम से अनिवार्यतः नया जन्म-मरण न हो।

^२ ऋ० १. ८९.१०। ^३ ऋ० ६. १. ५., ८. ९८. ११। ^४ ऋ० ४. १७. १७-१८। ^५ ऋ० १०. ४३. १. १।

^६ ऋ० १.९०.६-८।

“स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा.....भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम....”

“शं नो मित्रः शं वरुणः.....शं नो विष्णुरुक्रमः।”

(वर्ही १/८९/८६, १/९०/९)

“हमारा कल्याण हो”—यह कामना ही क्रमशः काम्य को ‘वरेण्य’ बनाती है—

“तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥”^{१२}

आनन्द की वह वरेण्यता दैनिक जीवन में उन स्थितियों में व्यक्त होती है जब मनुष्य “न बाह्यं किञ्चन वेद, ... नान्तरम्”^{१३} क्योंकि “आनन्दभुक्... प्राज्ञः”^{१४} “एतं सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरे-वाभिनिष्पद्यते।”^{१५} “प्राणिमात्र में ‘प्राणन’ का प्रेरक स्वयं ब्रह्म-तत्त्व ही है, जो ‘रस’ स्वरूप है।” रस का शील है प्रसरण (ब्रह्म में बृंहण)। इसी शील से मायोपहित होकर “स वै नैव रेमे ... एकाकी न रमते”^{१६}। अतः “पुरु-रूप ईयते”^{१७}। अनन्त नाम-रूपात्मक जगत् में अनन्त ही ‘जीव’^{१८} बनकर वह अपनी अद्वितीयता का वैभव अनुभव करता है ‘सच्चिदानन्द आत्मा’ स्वरूप से समस्त प्रियता का एकनिष्ठ आस्पद होकर।^{१९} उसकी अनन्त एकता आकाश (“खं ब्रह्म”)^{२०} के समान जहाँ भलीभाँति व्यक्त हो पाती है वहाँ ‘सुख’ अनुभव होता है अनुकूल होने से; और जहाँ उस अभिव्यक्ति को अवकाश नहीं मिल पाता (वह प्रतिकूल होने से) वहाँ ‘दुःख’ प्रतीत होता है। यह सुख-दुःख का अनुभव प्राणिमात्र में है, किन्तु विविध वाणी-मुद्रा आदि द्वारा पूरी तरह व्यक्त हो पाता है मनुष्य-तनु में ही। अतः सुख या आनन्द^{२१} को स्वरूपतः समझने, चिरस्थायी या अद्वय रूप में अनुभव कर पाने की अभीप्सा मनुष्य आकृति में ही ‘आत्मा की चरम प्रियता’ के रूप में पहचानी गई। इसीलिये मनुष्य को ही अधिकारी कहा गया—कर्म, उपासना, ज्ञान, योग, भक्ति (प्रेममयी सेवा) के विविध मार्गों द्वारा वस्तुतः एक ही ‘मृग्य’ (खोज कर पाने का लक्ष्य) पर्यन्त पहुँचने का।

दिव्य सत्ता के प्रति मानवीय-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति को एक अन्य दिशा से देखें तो जो वेदवाणी (संहिता-ब्राह्मणात्मक) हमें प्राप्त है, जिसका पर्यवसित रूप उपनिषदों में है, उसके प्राकट्य के अनुमानित समय में मनुष्य का प्रकृति के साथ सीधा एवं अधिकतम सम्बन्ध था।

^{१३} ऋ० १.८९.६, ८, १.९०.९। ^{१४} ऋ० ३.६२.३।, ^{१५} बृ० ४.३.२१।, ^{१६} मा० ५।, ^{१७} छा. ८.३.२।, ^{१८} बृह. १.३.८, २.३.२.४, छा० १.१.३ तै० २.६.१...।, ^{१९} बृ० १.४.३।, ^{२०} बृ० २.५.१९।, ^{२१} छा० ६.३.२-३; ६.११.१।

^{१२} तदेतत् प्रेयः पुत्रात्... प्रेयोऽस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा... बृ० १.४.८ “आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति”। बृ० २.४.५, ^{१३} बृ० ५.१.१

^{१४} आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तै० २.५. तथा इस पर शाङ्करभाष्य-मोद इति प्रियलाभनिमित्तो हर्षः। स एव प्रकृष्टः प्रमोदः। आनन्द इति सुखसामान्यमात्मा, प्रियादीनां सुखावयवानां तेष्वनुस्यूतत्वात्। आनन्द इति परं ब्रह्म। ... तपसा विद्यया श्रद्धया च निर्मलत्वमापद्यते यावत् तावद् विविक्ते प्रसन्नेऽन्तःकरण आनन्दविशेष उत्कृष्यते, विपुलीभवति...एष ह्येवानन्दयति। “एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।” —बृ० ४.३.३२-३३।

आकाश (व्योम, परम व्योम) वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी जीवन के अङ्ग थे। इनका अखण्ड समवाय-रूप अदिति, ऋतु चक्र, प्रकृति के सहज नियम इत्यादि से साक्षात् सम्पर्क था। अतः उनकी परिच्छिन्न एवं अपरिच्छिन्न सत्ता तथा स्वभाव मनुष्य के अनुभव-गोचर थे। इसीलिये प्रकृष्ट-प्रज्ञाशील क्रान्तिद्रष्टा ऋषि प्रकृति में अभिव्यक्त अप्राकृत तत्त्व को "साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म"^१ समझ पाये। उनका वह दर्शन-अनुभव व्योम जैसी ही विस्तीर्ण एवं अव्यक्त को व्यक्त कर सकने में सक्षम वाणी और 'कवि' शैली में प्रकट होता रहा। वह वाणी व्यक्ति-चित्त के सङ्कल्प से उत्पन्न नहीं थी कि मैं इस अनुभव को ऐसा गढ़कर इन शब्दों व छन्दों में कहूँगा। वह तो सहज अनायास स्फूर्त होती थी—इसीलिये, उस वस्तु-धर्म के नाते वह 'अपौरुषेय' कही गयी, भले ही जिन ऋषियों के मुख से वह प्रकट हुई उनका नाम उस वाणी के द्रष्टा के रूप में जुड़ा चला आया।

मनुष्य के हृदयस्थ भाव एवं भक्ति सहज ही उस वाणी में व्यक्त होते रहे। उसकी अथाह गहन-व्यापक गरिमा न पहचान सकने वाली अतिमन्दबुद्धि और कूपमण्डूकवृत्ति से ही कुछ 'आधुनिकों' द्वारा यह कहा जाता है कि प्रकृति से चमत्कृत होकर 'प्राथमिक' मनुष्यों को उसमें देवताओं की 'कल्पना' हुई और रहस्यात्मक कथायें या 'मिथक' बने। (तथ्य को देख सकने वाली बुद्धि को तो यह 'मिथक'-संज्ञा अपशब्द जैसी गर्हणीय प्रतीत होती है।) अस्तु।

प्रकृति का निकट-सम्बन्ध क्रमशः सीमित होता चला ज्यों-ज्यों ग्राम-नगर-जनपद आदि की संस्कृति का विकास हुआ। तब भी आदिकवि वाल्मीकि, पाराशर्य, व्यास तथा कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की वाणी में चर-अचर प्रकृति से मानव-सम्बन्ध एवं तदाधारित भाव-सम्बन्ध व्यक्त होते रहे। नगर-संस्कृति का प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता गया तब साथ-साथ श्रद्धा, भाव आदि के आलम्बन भी मनुष्याकृति में आते गये। इसी अनुपात में उनके नाम, रूप, क्रिया-कलाप, निवास, वाहन, कुटुम्ब-सम्बन्ध आदि का विस्तार बढ़ता चला। किन्तु साथ ही 'इन विविध रूपों में कोई एक ही तत्त्व अनुस्यूत है,' 'उस एक से ही वस्तुतः हमारा सम्बन्ध है,' 'हमारी विविध कामनाओं में मूलतः कोई एक ही अपूर्णता-बोध निहित है,' 'हमारे जीवन का उद्देश्य इस अपूर्णता से पूर्णता में पहुँचना है'—इत्यादि चिन्तन भी बना रहा।

जिस 'पूर्ण' का आकर्षण विविध रूपों में मनुष्य जीवन को प्रभावित करता रहा, उससे अपने तथा चहुँ ओर वर्तमान जगत् के सम्बन्ध की 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुरूप धारणायें तथा पूर्णता पाने के उपाय-चिन्तन होते रहे। इन सब में किसी न किसी प्रकार से छाया रहा भक्तिभाव।

वेदोपनिषदों की सारसंहिता श्रीमद्भगवद्गीता में भी अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण (विराट्-रूप) को सम्बोधित करते हुए भगवान् (परम आत्मा) और भक्त-मानव (जीवात्मा) में तीन सम्बन्धों का उल्लेख हुआ—'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाः...'^२ फिर पुराणों में, विशेषतया

^१ बृ० ३.४.१, ३.५.१।

^२ गी. ११.४४

श्रीमद्भागवत में तथा उसके अनुयायी वाङ्मय में यह प्रसङ्ग भलीभाँति एवं पूर्णतया विकसित हुआ; प्रीतिमय मानवीय सम्बन्धों के रूप में भगवान् का चिन्तन अथवा इन मनोभावों द्वारा भगवान् से सीधा सम्बन्ध भक्ति-पथ का विशिष्ट रूप बना।

भक्तिसूत्र शाण्डिल्य तथा नारदभक्तिसूत्र में भक्ति का लक्षण कहा गया—“ईश्वर में वैसी परम अनुरक्ति या प्रेम भक्ति है जैसी ब्रजलीला में गोपियों द्वारा व्यक्त हुई।”^१ उसमें सेव्यभाव, वात्सल्य तथा माधुर्य तीनों का समावेश है। पुराणों में अन्य प्रकार से वर्णित नवधा भक्ति में भी दास्य तथा सख्य ये दो मानवीय-सम्बन्ध स्पष्टतया और ‘आत्मनिवेदन’ में सङ्केतित रूप से वात्सल्य तथा माधुर्य भी अन्वित हैं। इन्हीं के द्वारा भक्ति-धारा में दिव्य चैतन्य के आनन्दानुभव से संस्पृष्ट भावपक्ष पर अधिकाधिक बल दिया गया।

यह उल्लेखनीय है कि यह भावानुभाविनी शक्ति (भक्ति) भगवत्कृपा के रूप में ही जीव-चेतना को अभिभूत करते हुए अवतरित होती है। यह सामान्य चेतना का प्रयत्नसाध्य उन्नयन-ऊर्ध्वीकरण या उसमें दिव्यता का आरोपण नहीं है (जैसी कि सामान्य मान्यता है)। इस कृपावतरण का ही सङ्केत कठोपनिषद् में आत्मा-कृत वरण^२ में दिया गया है, जिसकी व्याख्या में अनुभवी-वचन द्विविध वरण समझाते हैं।^३ कौषीतकि (ब्राह्मणोपनिषत्) में भी इस आत्माकृत वरण का सङ्केत स्पष्ट है।^४ तन्त्र की भाषा में भी आणव-मल की निवृत्ति का उपाय ‘कृपा’ है ही। वैष्णव साधना का तो अनिवार्य घटक है भगवत्कृपा की अपेक्षा में सर्वथा प्रपत्ति (पूर्ण शरणागति)।

एक ओर सात्त्विक सात्वत-चिन्तन इतना अग्रसर हुआ, फिर भी मानवीय विचार-सरणी के प्रमुख दो स्तर बने रहे—श्रेयस् और प्रेयस्। चिन्तन में प्रेयस् के व्याख्यान का भी अन्तिम लक्ष्य ‘निःश्रेयस्-प्राप्ति’ ही रहा, पर लौकिक अभ्युदय भुलाया न गया। क्रमशः इस ‘अभ्युदय’ का विचार बढ़ने लगा—सुगम, बाह्य-सुखद प्रतीत होने से।^५ लोकानुगामी साहित्य और उसका शास्त्र अधिकाधिक लोक-भोग्य रचनाओं से भरता गया, जिनमें मूल आकर्षण का प्रेरक तत्त्व (आत्मा का स्वरूप भूमा-सुख एवं प्रेम का युगपत् आश्रय-विषय होना) भुलाया जा कर आकर्षण का बाह्य रूप-काम (तात्कालिक प्रातिभासिक स्थूल सुख की इच्छा) प्रधान हो गया था। उसी से

१. “सा परानुरक्तिरीश्वरे” “यथा ब्रजाङ्गनानाम्।”

२. “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तन् स्वाम्।” कठ० २.२३

३. यमेव स्वात्मानमेव साधको वृणुते प्रार्थयते, तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायते इत्येतत्। निष्कामश्चात्मानमेव प्रार्थयते तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तन् स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम्। — कठ० २.२३ पर शाङ्करभाष्य।

४. एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते... कौ० ३.८।

५. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिकसूत्र १.१.२

६. पराञ्च खानि व्यतृणुत् स्वयम्भूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद् धीरः प्रत्यागात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ कठ० ४/१

रंगी हुई लौकिक कवि-दृष्टि उत्तरोत्तर स्थूलानुगामिनी होने से अर्थ-गाम्भीर्य से हट कर शब्द-छिलकों के चमत्कार में रत होती गयी। अर्थ-प्रकाशन हुआ भी तो तथाकथित 'रसरज' शृङ्गार के लौकिक स्थूल रूप का ही।

मानव-चेतना 'विषय-रस-छीलर' में ही आसक्त होकर मूल रस से विरत होती जा रही थी। उसे पुनः वास्तविक रस-उत्स की ओर लौटाने की प्रेरणा करुणा-परायण रसिक-अनुभवियों में उठी तब भारत की प्रायः सभी दिशाओं में सद्-वाणी (सन्त-वाङ्मय) उस-उस क्षेत्र की संस्कार-भूमिका तथा अपेक्षा के अनुरूप शैली में प्रकट हुई, जिसका सङ्केत पहले किया जा चुका है। इनमें भक्ति के विविध रूप प्रकट हुए, और काव्य के शास्त्र में भी भक्ति को 'रस' रूप से पहचाना गया।

'द्रष्टा' (दार्शनिक चिन्तक) देख रहे थे कि वस्तुतः "अशब्द-अस्पर्श-अरूप-अव्यय" तत्त्व के ही 'रस'-स्वरूप ने स्वयं अपने आस्वादन के लिए चिन्मय से भौतिक पर्यन्त सभी स्तरों में 'लीला'-रूप अभिनय का अभिनय किया है। समस्त सृष्टि उसी का 'लीलायन' है। वह लीला पूर्ण होती है जब उस रस का आस्वादन भक्ति द्वारा भक्त रूप में लिया जाता है। इसीलिये 'रस' के परम विग्रह युगल-छबि (गोपी-गोपाल) ने एक तनु में श्रीचैतन्य-रूप में 'भक्त' होकर भक्ति-लीला का आस्वादन प्रकट किया, इतना ही नहीं "ज्ञानं विज्ञानसहितम्"-प्रतिज्ञा के अनुसार स्वयं सूक्ष्म रूप में (शिक्षाष्टक द्वारा) कह कर सम्पूर्ण भक्ति-रहस्य एवं उसके विज्ञान का व्याख्यान श्रीरूप सनातन प्रमुख गोस्वामि-वृन्द द्वारा करवाया।

३. भक्तिरस सिद्धान्त का साहित्यिक-विकास

ऊपर कहे गये क्रम में मूल भक्ति-स्रोत की 'रस-धारा' ने क्रमशः परिनिष्ठित रूप लिया। उस का ऐतिहासिक विकास उपलब्ध ग्रन्थों में देखें तो सामवेद के उपवेद-तुल्य 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरतमुनि की रससूची में गिने गये आठ या नौ रसों में उत्तरकालीन काव्यशास्त्रियों द्वारा कुछ रस जोड़े गये, तथापि पण्डितराज जगन्नाथ-पर्यन्त अधिकतर ने भरतप्रदत्त सूची को ही प्रामाणिक माना। सामान्यरूप से यह प्रतीत हो सकता है कि 'भक्तिरस' भी ऐसा ही जोड़ा गया एक रस होगा। किन्तु वास्तव में यह कहीं अधिक व्यापक एवं गहन चिन्तन का फल है, केवल प्रसिद्ध सूची में अभिवृद्धि-मात्र नहीं।

भक्तिरस के प्रतिपादन और विवृति में मौलिक रस-सिद्धान्त के सम्पूर्ण ढाँचे अथवा काया का भलीभाँति विनियोग हुआ, जिसमें कि इस भूमि-लोक में रहते हुए भी लोकोत्तर मनःक्षितिज या अलौकिक चैतसिक (चेतना के) क्षेत्र में भक्तों के भगवान् के साथ सम्बन्धों की विविधताओं

का विवरण शब्दों में आँका गया। भक्तिरस के स्वानुभवी प्रतिपादकों ने देखा कि वर्तमान लोक में रहते हुए भी चखे जा सकने वाले भक्तिरस एवं प्रसिद्ध लौकिक काव्यरसों के बीच बहुत बड़ी खाई जैसा अन्तर है; यह भी देखा कि प्रसिद्ध नव-रसों का भी मूल वैभव तो भक्तिरस में ही विद्यमान है, उसी का किञ्चित् प्रतिबिम्ब या आभास अन्तःकरण (अज्ञानोपहित जीव-दशा) में भी रहने के कारण लौकिक क्षेत्र या जीवन में उन रसों की उपलब्धि होती है; फिर, इन रसों का 'आस्वादन' वे 'सहृदय' ही कर पाते हैं जिनका हृदय व्यक्तिसीमा लाँघ कर 'साधारणीकरण' की दशा में पहुँच गया हो।¹ इसीलिए लोक-जीवन में शोक-निर्वेद-विस्मय-उत्साह आदि के आश्रय-विषय-आलम्बन व्यक्ति स्वयं उन-उन रसों का आस्वादन नहीं कर पाते; क्योंकि उन परिस्थितियों से तदात्म हुए रहते हैं। उस दशा में उनको देखने एवं सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति भी उन परिस्थितियों से अभिभूत होने के कारण उन भावों के आश्रयवत् हो जाने से शोकादि से आकुल ही होते हैं। केवल उन परिस्थितियों का वर्णन (काव्य में) सुनते या अभिनय देखते समय ही स्वयं अभिनेता तथा प्रेक्षक दोनों में सहृदयता-युक्त तटस्थता सम्भव होने से 'रस' का परिवेशन तथा आस्वादन सम्भव होता है।

केवल भक्तिरस में विलक्षणता है कि इसके आश्रय-विषय स्वयं, उनका दर्शन पाने वाले भक्तजन तथा उन लीलाओं का अभिनय करने एवं दत्तचित्त देखने वाले प्रेक्षक-पर्यन्त सभी 'रस' का आस्वादन पाते हैं; क्योंकि वस्तुतः 'निज-आस्वादन' के लिये ही 'रस' द्वारा 'लीला' नित्य हो रही है। उस नित्य लीला का युगानुरूप प्राकट्य देश-काल-सीमा में भी होता रहता है, और उन लीलाओं का अनुकरण (नाट्य अभिनय) किये जाते समय तक वही 'रस' अनुस्यूत होने के कारण 'लीला' नाटक-मात्र नहीं रह जाती; वहाँ अभिनेता तथा प्रेक्षक दोनों उन भावों से भावित भावुक होते हैं जो उतने समय तक उन भावों को जी रहे होते हैं। यहाँ तटस्थता आवश्यक नहीं, बल्कि बाधक होती है; यहाँ तो—“अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अङ्ग।”

भक्ति का 'रस' रूप में निरूपण किनके द्वारा किस रूप में किया जाता हुआ श्रीरूप के प्रतिपादन का परिपार्श्व बना—इसे बहुत-कुछ प्रथम खण्ड (की अवतरणिका) में देखा जा चुका है, उसके विस्तार का यहाँ अवकाश नहीं है।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्।...देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्...न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसताऽपि युक्ता प्रत्यक्षादिव।...तत्र प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटनिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुबेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।...अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः...। अलौकिक-चमत्कारात्मा रसास्वादः। हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णाभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरी भावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्येव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया।

४. भक्ति एवं रस के मूल चिन्तनबिन्दु एवं धारणायें

(क) भक्ति के मूल तत्त्व एवं (सभी धाराओं में) स्वीकृत लक्षण—

१. परम तत्त्व तथा तत्सम्बन्धियों में सुदृढ़ निष्ठा।
२. उस एक (आराध्य या इष्ट) के प्रति ऐकान्तिक निर्भरता।
३. स्वयं को 'अणु' तथा परम सत्ता या तत्त्व को 'भूमा' समझना।
४. परम-इष्ट की इच्छाशक्ति का महत्त्व, उसी पर बल; परम तत्त्व को ही भक्त अपना स्वामी, जगत् का प्रभु, परमेश्वर समझता है। उनकी इच्छा के अधीन है भक्त की इच्छा।
५. 'कर्म' और 'ज्ञान' से भिन्न 'भक्ति' इच्छाशक्ति की वृत्ति है, इसलिये यहाँ चित्त के भावपक्ष पर बल है।

'रस' के आस्वादन के लिए दो उपाधि या दशायें आवश्यक हैं—(१) आस्वादन का आश्रय 'साक्षी' (परिस्थिति से तटस्थ) हो, (२) साथ ही 'सहृदय' (परिस्थिति को अनुभव करने में सक्षम मृदु अन्तःकरण वाला) हो। ज्ञान के द्वारा प्रथम योग्यता तो आ सकती है किन्तु दूसरी नहीं; उसके लिये 'भाव' नितान्त अनिवार्य है।

(ख) 'रस' का मूल तत्त्व एवं धारणा

'रस'-प्रत्यय भारतीय काव्यशास्त्र की विशिष्टता है। यहाँ 'रस' के घटक—स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी या व्यभिचारी भाव आदि—सुपरिचित हैं, अतः उनका अतिसंक्षिप्त निरीक्षण यहाँ पर्याप्त होगा। अधिकतर मनोभावों में एक विशेष सर्वसाधारण आवेद्यता, गहरी प्रगाढ़ उत्कटता होती है, उसी को उस मनोभाव का स्थायीभाव कहा गया है। वह मनोभाव जब व्यक्ति-सीमा से रहित (अनवच्छिन्न) हो तब 'रस' कहलाता है। उस मनोभाव की अभिव्यक्ति जिसमें हो रही हो वह उस रस का 'आश्रय' कहलाता है, और जिस निमित्त से वह मनोभाव उदित हुआ हो वह उस रस का 'विषय' कहलाता है। उस रस के आस्वादन के समवायी या अन्तर्निष्ठ कारण को 'विभाव' कहा गया है। विविध सहायक कारणों (जो अनेकों रसों में समान होते हैं) की संज्ञा 'व्यभिचारी भाव' है, जो अवसर के अनुरूप उदित और शान्त होते रहते हैं, चेतना में बने नहीं रहते। इनसे अतिरिक्त जो बाह्य अभिव्यक्तियाँ उन मनोभावों में दिखाई देती हैं, वे 'अनुभाव' कही गयीं तथा मनःशारीरिक अभिव्यक्तियों की संज्ञा हुई 'सात्त्विक भाव'।

रसों की संख्या—स्थायिभावों के अनुसार रसों की संख्या स्वीकृत है। भरतमुनि द्वारा गिनाये गये रसों की संख्या पर भी मतभेद है। उनमें कुछ 'शान्त' को रस मानते हैं, कुछ नहीं मानते। अधिकांश मतभेद 'शान्त' को रस मानने या न मानने पर ही केन्द्रित है, किन्तु कुछ ने इन आठ या नौ रसों के अतिरिक्त नये रस भी गिने हैं। जैसे कि भोज द्वारा

(शृङ्गारप्रकाश में) 'उदात्त' और 'उद्धत' रस जोड़े गये और साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ ने वात्सल्य-रस जोड़ा।

रस की एकता—कुछ काव्यशास्त्रियों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि वस्तुतः एक ही मूल-मनोभाव (रस) अन्य सब में अनुस्यूत है, जो विभिन्न प्रकार से (लक्षणा से) 'स्थायी भाव' बनता है। भोज का 'अभिमान-शृङ्गार'-सिद्धान्त, धर्मदत्त द्वारा अद्भुत रस पर बल देना तथा भवभूति का 'करुण' को ही वस्तुतः एक मात्र रस कहना इसी धारा के चिन्तन के उदाहरण हैं।

५. अन्य साधना-पद्धतियों का यथार्थ एवं पारम्परिक रसशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध न होने का कारण

भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों चिन्तनधाराओं में मनुष्यचेतना के मूलतः त्रिविध पक्ष देखे गये हैं—(१) इच्छा (२) ज्ञान (३) प्रयत्न या क्रिया। इनमें से ज्ञान और प्रयत्न (क्रिया)-शक्तियों पर तो सभी भारतीय दर्शनों में प्रभूत विश्लेषण एवं व्याख्यान हुआ है किन्तु 'इच्छा'-पक्ष प्रायः उपेक्षित रहा है। इसका कारण सम्भवतः यह रहा हो कि विस्तृत-विकसित दर्शनाधारित धर्म-साधनात्मक पद्धतियों में ज्ञान तथा योग अधिक है। (वैष्णव-चिन्तनानुसार ये दोनों अहंप्रत्यय-प्रधान प्रयत्न हैं जो नम्रता अमानित्व, प्रपत्ति के विपरीत हैं)—अतः ये ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग अन्ततः परमतत्त्व के इन दो ही शक्ति-पक्षों तक पहुँचाने में समर्थ हैं। सर्वथा उच्चतम शिखर पर क्वचित् (कभी) इच्छाशक्ति का भी किञ्चित् (थोड़ा-सा) परिचय दिलाते हैं। अधिकतर धार्मिक दार्शनिकों ने इच्छाशक्ति की ओर कम ही दृष्टिपात किया। इसीलिये फिर रसशास्त्र या काव्यशास्त्र से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रायः नहीं रहा, क्योंकि इन में इच्छाशक्ति का ही विवेचन-व्याख्यान है, भले ही वह आपाततः लौकिक-चेतना-स्तर पर हो। केवल वैष्णव (तथा कुछ शैव) साधना-पथों ने अपने सिद्धान्तों के रूपरेखाङ्कन के लिये रस-शास्त्रीय प्रणाली अपनाई, जहाँ शरणागति द्वारा भगवत्कृपा साध्य थी एवं भगवान् (या परमेश्वर) की इच्छा-शक्ति एवं भाव (रसात्मक) पक्ष का साक्षात्कार प्रमुख था।

श्रीरूप गोस्वामी के भक्तिसामृत-सिन्धु में साधना एवं अध्यात्मविज्ञान में रसशास्त्रीय प्रणाली अपनाये जाने की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष मूर्तिमान् हुआ। श्रीरूप की इस अद्भुत प्रतिभा को समझने के लिये इस क्षेत्र में रसशास्त्र के प्रयोग की प्रवृत्ति का कुछ ऐतिहासिक क्रम देखना, साथ ही पारम्परिक काव्यशास्त्रियों के भक्तिरस के प्रति रुझान का आकलन अवश्य उपयोगी होगा। इससे लौकिक काव्यशास्त्र का न्यूनता-पक्ष जान कर भक्तिरस से उन रसों का अन्तर समझना सरल होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से ई० दसवीं से सत्रहवीं (प्रायः आठ) शताब्दियों में लौकिक तथा अलौकिक (दिव्य) दोनों ही क्षेत्रों में 'रस'-चिन्तन प्रधान रहा है। श्री आनन्द-वर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक तथा श्रीमद् अभिनवगुप्त की अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक-'लोचन' (टीका) दोनों के द्वारा 'रस'-विचार काव्य-नाट्य के सर्वाधिक सारभूत अनिवार्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। तभी काव्य में रसशास्त्र की नींव सुदृढ़ हुई।

इस अवधि में पनपे भक्तिरस के विचारकों को प्रमुख पाँच श्रेणियों में देखा जा सकता है*—

१. जिन्होंने 'भक्तिरस' का केवल नामोल्लेख किया, रसशास्त्र की परिभाषा के अन्तर्गत भक्तिरस की व्याख्या नहीं की; यथा श्रीशाण्डिल्यमुनि एवं उनके व्याख्याता।
२. जिन्होंने अपने सिद्धान्त को पारम्परिक रसशास्त्र के ही ढाँचे में ढाल कर प्रस्तुत किया, उसमें 'भक्तिरस' नाम से नया कुछ जोड़ा नहीं; यथा श्रीबोपदेव।
३. जिन्होंने परम्परा प्राप्त रसों में 'भक्ति-रस' नाम से नयी संख्या जोड़ी, किन्तु विशेष विश्लेषण नहीं किया; यथा श्री श्रीधरस्वामी, पुराणसंहिता-कार तथा श्री लक्ष्मीधर।
४. जिन्होंने भक्तिरस-विषयक पूर्ण विस्तृत ग्रन्थ-रचना की। श्रीरूप गोस्वामी, श्री मधुसूदन सरस्वती एवं श्री नारायण भट्ट इसी श्रेणी में हैं।
५. कुछ अन्य, जिन्होंने श्रीरूप के पश्चात् इस विषय में प्रकीर्ण रचनायें कीं।

इन श्रेणियों के अधिक विवेचन का अवकाश अब भी नहीं है (ग्रन्थ-कलेवर बढ़ने के भय से); प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के विषय में यथामति चिन्तन ही वस्तुतः यहाँ प्रसङ्ग-प्राप्त है।

६. प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

(क) पीठिका

पहले भी बहुधा व्यक्त हुआ ही है कि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु भक्तिरस-शास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें परम्परागत रस-सिद्धान्त तथा अध्यात्मसाधना के अलौकिक उत्कर्ष का अद्भुत सङ्गम है। इनके पूर्ववर्ती मनीषियों ने भक्ति को रस की चरमावस्था (साध्य भक्ति) तक पहुँचा कर ही सन्तोष माना था। श्रीरूप ने इस ग्रन्थ में प्रथम बार भक्तिरस का शास्त्रीय पद्धति एवं सम्पूर्ण प्रक्रिया-बद्ध रीति से आद्योपान्त निरूपण किया।

इसलिए भक्तों के दिव्य मनोभावों तथा उनकी विविध अभिव्यक्तियों के शब्द-चित्राङ्कन देने के अतिरिक्त यह ग्रन्थ वस्तुतः साधकों के लिए भी सर्वथा उपयोगी है; क्योंकि इसमें भक्ति के क्रमिक स्तरों के अन्तःकरण-वैज्ञानिक सुस्पष्ट विश्लेषण के साथ-साथ इस भक्तिपादप के बीज-अङ्कुर स्तर से पुष्पित-फलित होने के स्तर-पर्यन्त का विज्ञान आत्मपरीक्षण तथा परिशोधन

* प्रथम खण्ड—अवतरणिका में पृ० XXX पर तीन श्रेणियाँ कही गयी हैं; यहाँ थोड़ी भिन्न रीति से कहा जा रहा है, सर्वथा पुनरुक्ति नहीं है।

के मापदण्ड-सहित निरूपित हुआ है। साथ ही ब्रह्मविज्ञान की भी विशद मीमांसा इस ग्रन्थ में है। पारम्परिक रसशास्त्रीय दृष्टिकोण की लेशमात्र भी क्षति न होने देते हुए, बल्कि उसकी रसात्मकता में अपूर्व सुषम अभिवृद्धि करते हुए भक्तिरस के वैष्णव-दर्शन के अनुकूल सिद्धान्तात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करने में श्रीरूप की विचक्षण विदग्धता सच ही विस्मयकारिणी है। इस सन्दर्भ में इनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपायचातुरी है भक्तिरसों को मुख्य एवं गौण श्रेणियाँ देना। रसशास्त्र को यह श्रीरूप की मौलिक देन है।

भक्तिरस के मूल अधिष्ठान तथा विविध आकारों को समझाने में श्रीरूप की विशिष्टता को पहचानने के लिये स्वयं उनकी भक्तिधारणा का अवलोकन आवश्यक है। उनके भक्तिलक्षण में दो शब्द मौलिक महत्वपूर्ण हैं—(१) आनुकूल्य (वे क्रियायें जो साभिप्राय समान रूप से श्रीकृष्ण के प्रति सुखद हों) (२) अनुशीलन (मन, वाणी शरीर की सम्पूर्ण गतिविधियाँ)। इन दो शब्दों का निहितार्थ या आशय श्रीरूप के भक्तिरस-विस्तरण की नींव का घटक है।

‘अनुशीलन’ के तात्पर्य में भक्ति के दो पक्ष^१ ध्वनित हैं—चेष्टा^२ (बाह्य क्रियायें) तथा ‘भाव’ (भीतरी रुझान)। भाव भी पुनः दो प्रकार का है—स्थायी तथा सञ्चारी। भक्ति का स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है। ‘आनुकूल्य’ का अभिप्राय है कि भाव भगवान् के प्रति प्रेममय हो, अन्यथा प्रतिफलित बाह्य क्रियायें भगवान् के सुख में सहायक या सुख-प्रयोजक नहीं होंगी।

इसी कारण पारम्परिक रसों में जो प्रतिकूल-वृत्ति के थे, उन्हें श्रीरूप ने भक्ति के अनुरूप ढाल कर निरूपित किया है। इसी समस्या के समाधान-हेतु यहाँ भक्तिरसों के भेद या प्रकार प्रतिपादित हुए हैं। ‘भक्ति’ को एक नये रस का रूप न देकर श्रीरूप ने सभी पारम्परिक रसों तथा स्वयं देखे हुए नये तीन रसों को अपने भक्तिसिद्धान्त में ऐसा तदात्मरूप से अपनाया है कि वे सभी (नौ तथा तीन कुल बारह) रस पूर्णतया भक्तिरसों में परिणत हो गये हैं। मूल लक्षण में कहे गये ‘आनुकूल्य’ के सिद्धान्त के कारण अवश्य ही अनेक अभिनव परिवर्तन अनिवार्य हुए, वे ही इनके भक्तिरस-सिद्धान्त तथा निरूपण को श्रीवोपदेव से भिन्न दिखाते हैं।

भक्तिरस के सामान्य स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रीरूप ने ‘श्रीकृष्णरति’ (श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम) को स्थायीभाव कहा है। यहाँ ‘रति’ का तात्पर्य शृङ्गाररस का स्थायीभाव नहीं, सामान्य प्रेम-भाव है। यह प्रेम विकसित अवस्था में अविशेषित नहीं रह सकता, तब इसे कोई न कोई रूप लेना होता है, जिसमें प्रेम के ‘विषय’ से कोई न कोई व्यक्ति-सम्बन्ध अपेक्षित होता है। भक्त का भगवान् के प्रति प्रेम प्रमुख पाँच प्रकार के सम्बन्धों का रूप लेता है—

१. शान्ति रति—निश्चल प्रीति, जिसमें भगवान् के प्रति ‘ममत्व’ (‘मेरा अपना’) भाव नहीं है, अर्थात् कोई व्यक्ति-सम्बन्ध नहीं है।

१. द्र० भ० र० सि० १/३/१ पर श्रीजीवगोस्वामी-कृत टीका।

२. चेष्टा पुनः दो प्रकार की है—(१) भाव को प्रकट कराने वाली साधना, तथा (२) भाव की बाह्य (काय-मनो-वाक् में) अभिव्यक्तियाँ (अनुभाव)।

२. प्रीति रति—सेवक (भक्त) का स्वामी (भगवान्) के प्रति प्रेम।
३. सख्य रति—मित्रों की परस्पर प्रीति, जहाँ दोनों (भक्त-भगवान्) में समानता का भाव है।
४. वात्सल्य रति—माता-पिता की सन्तान के प्रति एवं बालक की माता-पिता के प्रति प्रीति। इसमें भी पहला पक्ष प्रधान है जिसमें भक्त भगवान् को अपना सन्तान मानता है, स्वयं को उसका रक्षक।
५. प्रियता रति—प्रेमी-प्रेमास्पद-युगल में रहने वाली परस्पर प्रीति।

इन्हीं पाँच प्रकार के प्रेम की परिणति शान्त, प्रीत, प्रेयान्, वत्सल तथा मधुर* (शृङ्गार) रसों में होती है। (यहाँ 'मधुर' का अर्थ 'प्रिय' लिया गया है जो प्राचीन कोशों में उल्लेखित है।) इन पाँचों में इसी क्रम से उच्चता-तारतम्य भी देखा गया है। उसका मनोवैज्ञानिक आधार (सम्बन्ध की घनिष्ठता के साथ-साथ प्रेम की घनता का स्तर) भी है। जिस पर विचार स्वतन्त्र रूप से करना अपेक्षित है। परम्परागत रस-चिन्तन में से शान्त और शृङ्गार का इन मुख्य रसों में ग्रहण हुआ, मध्य के तीन (दास्य=प्रीतभक्ति, सख्य (प्रेयोभक्ति) तथा वत्सलभक्ति)-मानवीय प्रेम की तीन छटाओं को स्वतन्त्र रस-रूप में पहचाना श्रीरूप की विशेष उद्भावना है। इसने काव्य-साहित्य के रस-विमर्श को विशेष समृद्ध किया है। शान्त रस के स्थायी भाव में 'रति' का योग करके उसे प्रेम का रूप देना भी श्रीरूप की अद्भुत मौलिक देन है।

श्रीचैतन्य-मतानुसारी दर्शन में 'भाव' मानवात्मा को परमात्मा का कृपा-दान है। शुद्धसत्त्व-आत्मा में यह सदा विद्यमान रहता है, और भगवत्कृपा से ही जीव-चित्त* में स्फुरित होता है। वही भगवान् के प्रति पञ्चविध सम्बन्धों का बीज बन कर भक्त के स्वभाव* में स्फुट होता है। इसलिये पञ्चविध भाव या रति का आधार यह प्रत्यय है कि शुद्ध-सत्त्व आत्मा (भक्त) का भगवान् से सम्बन्ध उसके स्वभाव या प्रकृति के अनुसार पाँच प्रकार का हो सकता है।

इसी अवधारणा का प्रतिबिम्बवत् समानान्तर चिन्तन दक्षिण के सिद्धान्तशैवदर्शन (शैवसिद्धान्त) में—दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग, सहमार्ग, सन्मार्ग नाम से मिलता है। किन्तु वहाँ इनका कोई रस-सन्दर्भ नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि उनमें शान्त-भाव का कोई उल्लेख या स्थान नहीं है।

भरतमुनि की रस-गणना में नया 'भक्तिरस' जोड़ने की अपेक्षा श्रीरूप ने अन्य ही सुघड़ उपाय से भक्तिरस का व्याख्यान परम्परा की धारा के अनुकूल ही किया। 'शान्त' को पाँच मुख्य रसों

* श्रीरूप० द्वारा लौकिक शृङ्गार से ऊपर उठकर भगवद्-रति में युगल-प्रेम को 'माधुर्यभाव'-'मधुर रति' संज्ञा दी गयी, इससे शृङ्गार के लौकिक-स्तर के समस्त दोषों का अनायास परिहार हो गया। सबसे पहले महाराष्ट्र में सन्तश्रीज्ञानेश्वर द्वारा 'शान्त' द्वारा शृङ्गार को जीतने की प्रतिज्ञा* और उसका पालन हुआ था, उस 'शान्त' को 'मधुर' बनाकर 'मधुराद्वैत' की स्थापना की थी। किन्तु वहाँ उस समय के समाज और कवि-मति में छाये लौकिक शृङ्गार का प्रत्युत्तर देना उद्देश्य था। वहाँ 'मधुर रति' का सङ्केत (गी० १२ वें अध्याय की व्याख्या में) बहुत सूक्ष्म है क्योंकि ज्ञान-प्रधान भक्ति शान्त रस की मर्यादा में है।

१. भ. र. सिं. १.३.२।

२. -चै. शि. ७ -

में सम्मिलित करने से उस समस्या का भी अनायास समाधान हो गया जो भरतमुनि के उनचास भावों में शान्तरस के स्थायीभाव की गणना से उठ रही थी। शेष सात पारम्परिक रसों (हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स) को श्रीरूप ने गौण-रस-श्रेणी में रखा। इनमें से भी प्रेम-विरोधी रसों का रूपान्तर कर लिया, क्योंकि इस दृष्टि में 'रति' रस का अनिवार्य अविनाभावी घटक है। इस मुख्य-गौण श्रेणीकरण में मुख्य वे पाँच हैं जिनमें भक्त-भगवान् के मध्य किसी न किसी प्रकार व्यक्तिगत सम्बन्ध है और जहाँ वैसा सम्बन्ध अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं है, वे सात रस गौणश्रेणी में गिने गये। ये कुछ समय के लिये ही उदित होते हैं, जबकि पृष्ठभूमि में कोई मुख्य रस ही विद्यमान रहता है। इसलिये गौण रसों की अपने आप में स्थिरता नहीं है, मुख्य रसों के फलक पर ही गौण रस उदित-विलीन होते रहते हैं, किसी भक्त में कोई गौण रस सदा नहीं रहता, बल्कि परिस्थितिवश मुख्य रस सङ्कुचित होकर मानो गौण रस को अवकाश दे देते हैं।

श्रीरूप ने स्वयं कहा भी है कि सभी गौण रस वास्तव में ठीक-ठीक भक्तिरस नहीं हैं। किन्तु बहुधा ये व्यभिचारी भावों की भाँति मुख्य रसों के पोषक होते हैं, तथा परम्परा-प्राप्त हैं; इसीलिये उनकी गणना भक्तिरसों में की गयी। फिर भी श्रीरूप की सुविदग्धता का प्रावीण्य है कि सभी पारम्परिक रसों को भक्ति से अनुप्राणित कर सिद्धान्तानुकूल बना लिया।

श्रीरूप के अनुसार वस्तुतः भगवत्सम्बन्ध के अभिव्यञ्जक भक्तिरस के पाँच ही प्रकार हैं, जो 'श्रीकृष्णरति' स्थायिभाव द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं; अतः मूल भक्तिरस श्रीकृष्णरति ही है। इस पक्ष में एकमात्र भोज का शृङ्गारप्रकाश में व्यक्त मत ही श्रीरूप के कुछ समान है। वहाँ 'अहङ्कार (अभिमान) शृङ्गार' के प्रतिपादन का सार है कि :—

रस वस्तुतः लोकोत्तर आनन्दास्वाद है। उसी के विविध रूप हैं शृङ्गार, वीर आदि, किन्तु मूल रस इनसे विशेषित नहीं। रस तो मनुष्य के अन्तरात्मा का अन्तरात्मा में ही आस्वादित होने वाला पक्ष है; उसका निजी कोई नाम-रूप नहीं। 'आप्तकाम' की 'आत्मरति' या 'आत्मप्रीति' ही 'अहङ्कार' या 'अभिमान' द्वारा 'आस्वादन' बनती है। 'अहङ्कार' में व्यक्त होती हुई आत्मरति जब बाह्य विषयों (दुःख-पर्यन्त) के सम्पर्क में आती है तब भावजगत् में सहस्रमुखी हो जाती है। इन भावों का आस्वादन 'अहं' (जीव) की उसी रति-शक्ति द्वारा होता है। वह मूल रस ही 'स्थायी' है। अहङ्कार/अभिमान-शृङ्गार 'पूर्वा कोटि' है।

इसी में से भाव उदित होते हैं, जो अपने व्यभिचारी भावों-अनुभावों-विभावों के साथ प्रकर्ष-पर्यन्त पहुँच कर मूल अहङ्कार-रस को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार विभिन्न रूपों में प्रकृष्ट होने पर भी वे मूल एक ही रस के व्यभिचारी भाव-मात्र होते हैं। यह रस की 'मध्यमाकोटि' (व्यावहारिक अवस्था) है, जिसकी विचारणा सभी आलङ्कारिक करते हैं। इसी स्तर पर रसों में अनेकता देखी जाती है।

रस की तृतीय-‘पराकोटि’-है प्रेम। सभी भाव पूर्ण प्रकर्ष पाकर ‘भावना’ में सञ्चरित होते हुए उसके परे जाकर प्रेम-अवस्था द्वारा ‘अहं’ रस में लीन हो जाते हैं। प्रेम-अवस्था में प्रत्येक भाव किसी न किसी प्रकार की ‘रति’ होता है। अन्ततः प्रत्येक प्रकार की रति या प्रीति आत्मा-अहङ्कार-अभिमान या ‘शृङ्गार’ (मूल अर्थ में ये सभी पर्याय हैं)—की ही प्रियता की अभिव्यक्ति है।

उस ‘अहं’ की प्रथम प्रमुख अभिव्यक्ति है मनुष्य की चार प्रकार की आसक्ति एवं समस्त क्रियाओं के प्रयोजक चार पुरुषार्थ। अर्थात् प्रमुख रूप से मनुष्य की चाहत के जो चार प्रकार के लक्ष्य देखे गये हैं, उनका भी मूल प्रयोजक (जिसे बाद में ‘पञ्चम-पुरुषार्थ’ रूप से पहचाना गया) प्रेम ही है। “प्रेमा पुमर्थो महान्”^१ उसी के लिये ‘अहं’ (प्रतिबिम्ब) के बिम्ब (परम आत्मा-भगवान्) को भी मनुष्य आकृति में आने की इच्छा हुई, होती है।

“जनिष्यते तत्प्रियार्थम्”^२

भोज के अनुसार ‘अभिमान’ ही सब रसों का आधार है। “मैं अमुक हूँ” “मैं ऐसा हूँ”—यह बोध ही व्यक्ति में विविध भावों को जगाता है। उस अहंबोध (के स्तर) पर ही इन भावों-संवेगों की प्रकृति और उत्कटता निर्भर रहती है। यह ‘अहं’-प्रत्यय (अस्मिता) वस्तुतः आत्मप्रतीति का ही प्रकाश है, जो प्रत्येक मनुष्य में इसी आधार पर भिन्न होता है कि वह स्वयं को ‘क्या’ समझता है।

श्रीरूप के भक्तिरस-सिद्धान्त में भी ‘अभिमान’ (स्वयं को अमुक समझना) का बहुत महत्त्व है। भक्तों की अन्तर-बाह्य प्रवृत्तियाँ (क्रियाएँ) उनके ‘अभिमान’ पर ही निर्भर करती हैं कि वह भगवान् से अपना क्या सम्बन्ध समझता है। यह ‘अभिमान’ ही उसके अनुरूप कृष्णरति में परिणत होता है। जैसे कि वात्सल्यरति से सम्पन्न जीव अपने नाम-व्यक्तित्व को भूलकर यही मानता है कि मैं कृष्ण की माँ या पिता हूँ, वह हमारा बेटा है, उसकी भूख-प्यास-नींद और सुरक्षा का ध्यान हमें रखना है। भक्त का यह अभिमान ही (भक्त तथा भगवान्) दोनों ओर का व्यवहार निर्धारित करता है।

एक प्रकार से कहा जा सकता है कि भोज की ‘आत्मरति’ का ही प्रतिफलन है श्रीरूप की ‘कृष्णरति’। यद्यपि भोज का ‘अभिमान’ मायिक (त्रिगुणात्मक) है और श्रीरूप-सूचित अभिमान शुद्धसत्त्वाधारित होने से मायातीत है; इसी तथ्य से ये दोनों पृथक्जातीय हो जाते हैं, फिर भी दोनों की पृष्ठभूमि का चिन्तन समान अवश्य है। भोज एवं श्रीरूप के चिन्तनों का भेद ‘रति’ के तात्पर्य में है। भोज के अनुसार ‘रति’ का विषय सम्प्रयोग (नर-नारी-सम्बन्ध) है, और ‘प्रीति’ के अन्तर्गत अन्य सब मानवीय सम्बन्ध है। श्रीरूप ने सभी प्रकार के प्रेम के लिए ‘रति’ संज्ञा दी है।

‘भक्ति’ को ‘रस’ रूप में किसी न किसी स्तर पर स्वीकार करने वाले मनीषियों का अपेक्षित

१. श्रीचैतन्यमत का प्रसिद्ध श्लोक

२. श्रीमद्भागवत १०.१.२३

परिचय प्रथम खण्ड में आ चुका है। अब इस सन्दर्भ में उन सम्भ्रान्त चिन्तकों का कुछ परिचय भी उपयोगी होगा जिन्होंने भक्ति को 'रस' रूप से नहीं पहचाना और काव्यशास्त्रीय रीति से विरोध प्रकट किया।

(ख) भक्ति-रस का अन्वय-व्यतिरेकी-चिन्तन

यह विचित्र तथ्य है कि भक्ति-रस के प्राचीन उल्लेख विरोधात्मक हैं। ये उन चिन्तकों की वाणी में हैं जिन्होंने भक्तिरस-रस को स्वीकार नहीं किया बल्कि इस पर आक्षेप उठाये हैं। इन उल्लेखों से अर्थापत्ति द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि उस समय भी भक्तिरस का प्रतिपादन प्रसिद्ध रहा होगा, किन्तु उन प्रतिपादकों की वाणी अब प्राप्त नहीं है।

पारम्परिक विरोधी चिन्तन तीन प्रकार का है—

- (१) भक्तिरस को शान्तरस के ही अन्तर्गत मानना (अभिनव गुप्त^१, शार्ङ्गदेव^२)।
- (२) वस्तुधर्म से ही भक्ति में 'रस' की उत्कटता के लिये आधारता न मानना (मम्मट^३)।
- (३) भरत-सम्मत न होने के कारण इसे 'रस' न मानना।

इनमें से प्रथम कोटि की युक्ति यह है कि भक्ति ज्ञान का ही अङ्ग है, इसी रूप में वह मोक्ष का उपाय है। इसलिये भक्ति को पृथक् स्वतन्त्र 'भाव' नहीं माना जा सकता।

परम्परागत काव्यशास्त्रीय रसों का भक्तिरस से भेद दो प्रकार से है—

- (१) परम्परागत (रस-शास्त्र) में रस का आश्रय-आस्वादक केवल सहृदय प्रेक्षक^४ होता है, अनुकार्य वस्तु (कथा) या अनुकारक (अभिनेता या सुनाने वाला) स्वयं रस का आस्वादक-आश्रय नहीं होता। जब कि भक्तिरस में रस के आस्वादक तीनों होते हैं—अनुकार्य (स्वयं भगवान् 'रस'-स्वरूप होने से), भक्त (सहृदय होने से), नट (अनुकार्य से तदात्म हुए बिना नाट्य सम्भव न होने से)। भक्तिरस के आस्वादन में भाव लौकिक होने का अवकाश ही नहीं।
- (२) पारम्परिक रसों में स्वयं स्थायीभाव ही अलौकिक नहीं होता, केवल रसास्वादन के माध्यम—नाट्य-यज्ञ एवं सहृदय प्रेक्षण—के द्वारा ही वह अलौकिक बनता है। इधर, भक्तिरस-प्रसङ्ग में स्वयं स्थायी भाव ही अलौकिक है, उसके आस्वादन के लिये किसी रसाभिव्यञ्जक माध्यम की आवश्यकता नहीं। इसलिये वास्तव में एकमात्र भक्तिरस ही अलौकिक है।

१. अभिनवभारती

२. सङ्गीतरत्नाकर ७.१५३०-३१

३. काव्यप्रकाश ६

४. यह चिन्तन 'नाट्य' के सन्दर्भ में है अतः प्रेक्षक का उल्लेख है, अन्य काव्य के लिये सहृदय श्रोता या पाठक इसी के अन्तर्गत समझने चाहियें।

पारम्परिक रसों का अलौकिकत्व वस्तुतः लोक से अतीत स्थिति को सूचित नहीं करता, केवल सामान्य से ऊँचे स्तर की अनुभूति का ही द्योतक है।

इस पर्यालोचन में, हमारे निकट के रसानुभवी योगी श्री अरविन्द के "सावित्री-काव्य विषयक पत्रों" में से एक सार-स्थल उद्धृत करना उपयोगी होगा—

"Aesthesis responds not only to what we call beauty, but to all things. There can be an aesthetic response to Truth also. Truth is not merely a dry statement of facts or ideas to or by the intellect (as religious philosophy is), it can be a splendid discovery, a reputurous revelation, a thing of beauty. The poet can feel a poetic and aesthetic joy in the expression of the True as well as in that of the beautiful. He does not make a mere intellectual or philosophical statement of the Truth, it is his vision of its beauty, power, his thrilled reception of it, his joy in it, that he tries to convey by an utmost perfection of word and rhythm. Such a poet sees, thinks and creates in masses, re-unites separated things (of our ordinary consciousness) and reconciles opposites. On his level of consciousness Truth and beauty not only become constant companions but become one, involved in each other, inseparable; the True is always beautiful and beautiful is always True".

(ग) श्रीरूप-निरूपित भक्तिरस के प्रमुख मूलभूत सिद्धान्त

भ. र. सिन्धु का प्रतिपाद्य मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—

(१) भक्ति का 'रस' रूप से कथन, - भक्ति की प्रकृति और भेद।

(२) भक्ति के संघटक उपादान।

(३) भक्तिरस का बारह भेदों में विभाजन (पाँच मुख्य, सात गौण) तथा उन बारहों का परस्पर मित्र-शत्रु-भाव।

वास्तव में इस ग्रन्थ का प्रथम भाग (जिसमें भक्ति की प्रकृति और भेदों का सामान्य निरूपण है) 'स्थायी भाव' ही की पर्यालोचना है, क्योंकि वहाँ 'कृष्णरति' (भक्तिरस का मूल स्थायिभाव) के प्रारम्भिक स्तरों की संघटना पर विचार किया गया है जिनकी परिणति स्थायिभाव में होती है। उसके भी उपोद्घात रूप में भक्ति के सामान्य भेद तथा प्रकृति (स्वभाव) का चिन्तन है, जो भक्तिरस का मर्म समझने के लिये अतीव महत्त्वपूर्ण है।

(१) भक्ति की प्रकृति एवं प्रकार

भक्तिरस-प्रतिपादन का प्रारम्भ ही 'उत्तमा भक्ति' की परिभाषा से किया गया है, क्योंकि वस्तुतः वही 'रस'-चिन्तन में प्रासङ्गिक है। उत्तमा भक्ति वह है जहाँ जीव की काया, मन, वाणी

की सभी वृत्तियाँ साभिप्राय केवल श्रीकृष्ण के निरन्तर अनुकूल रहते हुए, उनका ही अनुशीलन करते हुए, अन्य किसी भी स्तर* की अभिलाषा से सर्वथा रहित रहते हुए, उनके निज-सुख-आस्वादन में सहायक होने के लिये प्रेरित हों—

“अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥”

इस लक्षण या परिभाषा का प्रत्येक शब्द मौलिक महत्त्व से भरा है, जिनमें प्रमुख छह बिन्दु हैं—

१. काय-मनो-वाक् द्वारा अनुशीलन—निरन्तर वही लक्ष्य बना रहना,
२. अनुकूल भाव से,
३. श्रीकृष्ण के (सुख में सहायक होना),
४. उत्तमा भक्ति,
५. अन्य कोई प्रयोजन या अभिलाषा न होना,
६. ज्ञान और कर्म से ढका न होना।

१. भक्ति ‘अनुष्ठानमयी’^१ है। अर्थात् व्यवहारिक या लौकिक जगत् में भक्ति की अभिव्यक्ति-चित्त के ‘भाव’ सहित समस्त अन्तर-बाह्य करणों द्वारा होती है।^२ भक्ति भगवान् की स्वरूपा शक्ति की ही वृत्ति है। उस स्वरूपाशक्ति से अनुगृहीत भक्त की इन्द्रियाँ उसी शक्ति से तादात्म्य-मयी हो जाती हैं। तब इन दिव्यभावापन्न इन्द्रियों से श्रीकृष्णानुशीलन बन पड़ता है। इस अनुग्रह से पहले तक की क्रियायें साधना की प्रवर्तिका-मात्र होती हैं, उस स्तर में ये गौण अर्थ में भक्ति या साधना कहलाती हैं।

२. ‘श्रीकृष्ण का आनुकूल्य’ ऊपर कहे गये अनुशीलन का विशेषण है। कभी प्रतिकूल भाव क्रोध, भय, द्वेष आदि से भी सतत भगवान् का अनुशीलन हो सकता है, जैसा कि हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, शिशुपाल आदि का था, किन्तु वह दशा भक्ति नहीं, मुक्ति का हेतु बन जाती है। इसीलिये ‘आनुकूल्य’ से सूचित प्रीति भक्ति के लिये अनिवार्य कही गयी। शाण्डिल्य मुनि बारम्बार कहते हैं कि द्वेष से सर्वथा दूर या विरोधी है भक्ति भाव।^३ श्रीरामानुज^४ एवं श्रीमध्व^५ ने भी इस बिन्दु पर बल दिया है कि प्रेम भक्ति का अनिवार्य अविनाभावी धर्म है।

* “मुझे तत्त्वज्ञान या परमात्मज्ञान हो जाय, जिससे मोक्षप्राप्ति हो” अथवा “मेरे द्वारा अच्छे कार्य हों, जिनके फल-रूप पुण्यादि से इह-पर-लोकों में सुख एवं अन्ततः ज्ञान-पूर्वक मोक्ष हो”—ऐसी उच्चस्तर की अभिलाषा भी भक्तिरस की निष्पत्ति में बाधक है। उत्तमा भक्ति में साधन और साध्य एकमात्र भक्ति (श्रीकृष्ण के प्रति अगाध-अबाध प्रेम) ही है। भ.र.सिं. १.१.११

^१ इस विवेचन का सन्दर्भ—भ.र.सिं. १.१.११ पर श्री जीवगोस्वामी कृत टीका

^२ भ.र.सिं. में उद्धृत नारदपाञ्चरात्र—“सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते”

^३ शाण्डिल्य-सूत्र—१.१.४,६ तथा २.१.१९

^४ वेदार्थसंग्रह-मध्यभाग, जहाँ भक्ति को ‘प्रीतिविशेषः’ कहा गया।

^५ महाभारततात्पर्यनिर्णय—१.१८६ “भक्तिः स्नेहरूपा”। प्राचीनोक्ति उद्धृत।

श्रीमद्भागवत में चार श्लोकों (७-१. ३०-३३) में यह कहा गया कि काम, द्वेष, भय, प्रीति, सम्बन्धिता तथा भक्ति द्वारा, अथवा जिस-किसी भी प्रकार से हो चित्त श्रीकृष्ण में लगा रहने से शुद्धि, पापनिवृत्ति होती है। किन्तु मूल शब्दों द्वारा या टीकाकारों द्वारा कहीं प्रीतियुक्त और प्रीतिरहित अनुशीलन-प्रकारों से फलित होने वाले इस भेद की ओर इङ्गित नहीं किया गया जो श्रीरूप ने दर्शाया है। भक्ति के उत्कर्ष के लिये कृष्णानुशीलन में आनुकूल्य की अनिवार्यता कहना इस विषय में पहले से चले आते चिन्तन के और आगे का कदम है। इसके द्वारा कंस, शिशुपाल आदि भक्त-श्रेणी से बहिष्कृत हुए, साथ ही प्रीति-विरोधी रसों का भी कायापलट हो गया। श्री जीवगोस्वामी ने भक्ति-सन्दर्भ में इस सिद्धान्त को और विशद किया कि आपाततः श्रीकृष्ण को सुखद प्रतीत होने वाले भाव भी भक्ति के अन्तर्गत नहीं यदि वास्तव में वे सख्यादि के समान प्रीतिकर न हों। जैसे कि कंस की रङ्गशाला में चाणूर-मुष्टिक ने मल्लयुद्ध के लिये आह्वान किया तब श्रीकृष्ण को (अपने अभीष्ट कार्य के अनुरूप होने से) अच्छा ही लगा, किन्तु उनका आह्वान मित्रभाव से नहीं शत्रुभाव से था, अतः वे भक्त नहीं कहे जा सकते। दूसरी ओर यदि भक्त की किसी क्रिया का प्रयोजन श्रीकृष्ण का सुख हो तो बाहर से वह क्रिया उनके लिये कष्टकर होने पर भी भक्ति के अन्तर्गत रहती है। जैसे कि दूध पीते हुए बालकृष्ण को गोद से उतार कर रोते हुए छोड़कर भी यशोदा आँच पर उफनते दूध को उतारने चली गयीं, वह उनकी भक्ति की ही अभिव्यक्ति रही (क्योंकि उस दूध में से कृष्ण के लिये मक्खन निकालना था)।

३. श्रीकृष्ण का अनुशीलन भक्ति कहा गया, क्योंकि वे स्वयं "अखिलरसामृतमूर्ति" हैं। प्रेम और सौन्दर्य के समग्र आकलन रूप रस-शास्त्र में श्रीकृष्ण का यही स्वरूप परम आराध्य है उनके अन्य समस्त ऐश्वर्य यहाँ गौण हैं। 'ब्रह्म' तत्त्व का आनन्द-पक्ष यहाँ प्रधान है, चित् एवं सत् पृष्ठभूमि में विद्यमान हैं।

४. भक्ति को 'उत्तमा' विशेषण देने का तात्पर्य श्रीजीवगोस्वामी ने (भक्तिसन्दर्भ में) भक्ति की तीन श्रेणियों के रूप में विशद किया है—(१) आरोपसिद्धा (२) सङ्गसिद्धा (३) स्वरूप-सिद्धा। इनमें—प्रथम सर्व-कर्म-समर्पण का फल है, जहाँ भगवान् का स्वरूप ज्ञात नहीं, अनुमित या आरोपित है; द्वितीय योग एवं ज्ञान की सहायता से लब्ध है; और तीसरी अपने चित्-स्वरूप के बोध से स्वतः उपलब्ध है। इसी को 'अहैतुकी' 'अप्रतिहता' 'केवला' 'निर्गुणा' संज्ञायें भी दी गयी हैं। यही कोटि 'उत्तमा' भक्ति में अभिप्रेत है।

५. भक्ति में कोई अन्य प्रयोजन या अभिलाषा नहीं रहती—यह भी वैष्णवों का अनुभूत-स्वीकृत सत्य है। कुछ ईसाई रहस्यवादियों ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं। जैसे कि Geneva के St. Catherine का वचन है—"I wish not for anything that comes forth from thee but only for thee O my lord!"²

¹ भ.र.सिं. १.१.१

² E. Underwill के "Mysticism" में पृ० १०१ पर उद्धृत

६. 'ज्ञान' अर्थात् ब्रह्म से एकत्व का ध्यान या बोध तथा श्रुति-स्मृति-निर्दिष्ट नित्य-नैमित्तिक कर्म से आवृत न होने का अभिप्राय रस-बोध में उनका अन्तराय न रहने से है; यदि ये ज्ञान-कर्म मूल सेवा-भाव तथा भगवत्सम्बन्ध में बाधक न होते हों तो इनका निषेध नहीं है, अपेक्षा भी नहीं है।

भक्ति के प्रकार

सभी प्रधान वैष्णव-सम्प्रदायों में भक्ति के प्रमुख दो भेद स्वीकृत हैं—साधन (भक्ति) और साध्य (भक्ति)। श्री मध्वाचार्य ने इन दोनों के मध्य छह स्तर देखे हैं— १. श्रद्धा, २. माहात्म्यज्ञान, ३. अपरोक्ष-साधन, ४. अपरोक्ष-ज्ञान, ५. परमाभक्ति, ६. मुक्ति, —इनके बाद स्वरूपभक्ति या साध्यभक्ति कही है।^१ श्रीरूप ने भक्ति के तीन स्तर पहचाने हैं—१. साधन, २. भाव, ३. प्रेम। भावभक्ति भक्तिरस के साक्षात्कार की प्रक्रिया में मध्यम दशा है, जहाँ प्रेम-भक्ति आंशिक रूप में व्यक्त हो रही है।

१. साधन-भक्ति

साधनभक्ति 'कृतिसाध्या' (इन्द्रियादि की क्रियाओं द्वारा निष्पन्न की जाने वाली) तथा 'साध्यभावा' (भाव की अभिव्यक्ति में परिणत होने वाली) है। सभी अध्यात्म-पथों में प्रारम्भ का स्तर है अन्तर्बाह्य शुद्धि करते हुए परमात्मसाक्षात्कार के योग्य आधार बनाना। इसी के लिये सद्गुरु एवं शास्त्र अनेक प्रकार के विधि-निषेध बताते हैं जिनका पालन करने से ही बुद्धि-मन-वाणी-काया 'भक्ति' को जीने-योग्य बनते हैं। कुल मिलाकर वह तपश्चर्या ही साधन बनती है जिसमें सभी स्तरों का संयम एवं सन्तुलन सम्पूर्ण व्यवहार एवं अन्तरङ्ग में जिया जाता है; "जैसे हिं राखौ वैसे हि रहौ" की दशा में रहते हुए प्रतिक्षण भगवान् के प्रति आनुकूल्य एवं निज-अभिलाषा-शून्य भाव से सभी प्राप्त कर्म कुशलता से किन्तु सर्वथा निष्काम किये जाते हैं।

वैष्णव साधना की विशिष्टता है कि यहाँ तपस्या रूखी नहीं, जीवन-विमुख नहीं, बल्कि सभी क्रियायें भगवान् को समर्पित होने से, सर्वत्र भगवद्दर्शन दृढ़ करने के लिये अधिकाधिक सरस होती हैं; दैनिक जीवन ही साधना-क्षेत्र है; शुष्क 'मौन' के स्थान पर रस-भावमय कीर्तन होता है, प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति भगवत्सम्बन्धी होने से सर्वत्र व्यवहार प्रेममय होता है, सहज ही मानवीय जीवन-मूल्य (सत्य, करुणा, प्रेम) व्यवहार में प्रतिष्ठित होते हैं। साथ ही वैष्णव जिस पारमार्थिक लक्ष्य-परमतत्त्व के साक्षात्कार एवं सेवा के लिये तत्पर हैं उस नित्य जीवन के सभी रङ्गों, छटाओं के आनन्दास्वाद के रसिक हैं अतः किसी भी प्रकार शुष्क या जीवन-विमुख नहीं।

यहाँ साधना ऐसी सीढ़ी या मार्ग नहीं जो लक्ष्य पा लेने पर छोड़नी पड़े या छूट जाय; वस्तुतः 'साधन' और 'साध्य' भक्ति में कोई अन्तर नहीं, दोनों ही स्तरों में मन-वचन-कर्म से सेवा

^१ अनुव्याख्यान-३१४

परम-आराध्य की ही होती है, स्तरभेद इतना ही है कि साधन नश्वर मायिक देह द्वारा शिक्षण रूप में है और साध्य है नित्य-भाव-देह या स्वरूप में रहते हुए नित्यलीला में प्रवेश।

श्रीरूप ने साधन-भक्ति के चोंसठ अङ्ग^१ कहे हैं जिनमें विधि-निषेध सम्मिलित हैं। ये सभी भाव के प्राकट्य के लिये हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने इन भक्ति-अङ्गों का पाँच प्रकारों में वर्गीकरण भावों के अनुरूप किया है^२—

१. भावमय—जो स्वयं भाव-प्रकृति के हैं—दास्य, सख्य आदि।
२. भाव सम्बन्धी—जिनका भाव से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसे—गुरुपदाश्रय, मन्त्र जप, भक्त-सङ्ग, श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि।
३. भावानुकूल—एकादशी आदि उपवास, इन्द्रियनिग्रह, तुलसी अश्वत्थ आदि का सम्मान।
४. भावाविरुद्ध—जो भाव के विरोधी नहीं, जैसे 'नाम' तिलक-धारण, निर्माल्य-सेवन, प्रणामादि।
५. भाव-प्रतिकूल—जो क्रियायें निषिद्ध हैं—जैसे रागानुगा भक्ति के साधक के लिये द्वारिकालीला के अधिकांश प्रसङ्गों (जहाँ ऐश्वर्य प्रधान है) का चिन्तन निषिद्ध है।

मुख्य रूप से साधन-भक्ति द्विविध कही गयी है—वैधी और रागानुगा। (इनकी व्याख्या स्वयं ग्रन्थ में है ही, विस्तारभय से यहाँ उसका सार भी उद्धृत नहीं किया जा रहा है।) प्राचीन आचार्यों में से वोपदेव ने भक्ति के दो भेद कहे हैं—विहित और अविहित^३ जो बहुत कुछ उक्त दोनों के समान हैं, किन्तु 'अविहित-भक्ति' में निषिद्ध भावों—द्वेष, भय आदि तथा सामान्य काम, स्नेह आदि को भी एक साथ ले लिया गया है, यह बड़ा अन्तर है। श्रीवल्लभाचार्य ने भी श्रीरूप के सदृश ही भक्ति के दो विभाग कहे हैं। इसे भगवान् की इच्छा के अधीन बताया है कि कौन जीव किस प्रकार की भक्ति करेगा। जो जीव इन दोनों के अन्तर्गत नहीं, वे प्रवाह-मार्गीय हैं जो बाह्य भौतिक-मानसिक प्रकृति के अनुसार जन्म-मरण लौकिक सुख-दुःख के थपेड़े सहते रहेंगे।^४

२. भाव-भक्ति : मध्यान्तर दशा

३. प्रेमा भक्ति—

भाव की रस में परिणति; यही वास्तविक साध्य भक्ति है। इन दोनों का सुविशद प्रतिपादन ग्रन्थ के पूर्व-विभाग में क्रमशः तृतीय और चतुर्थ लहरियों में हुआ है। उनका संक्षिप्त सार यही है कि प्रेम-सूर्य की किरणों के समान शुद्धसत्त्वात्मक भाव चित्त को द्रवित करके मृदु बनाता है। इसमें अश्रु-पुलकादि सात्त्विक विकार, अल्प मात्रा में रहते हैं। प्रेम की प्रथमावस्थारूपा रति

१. भ.र.सिं. १.२.७२-२३७

२. भक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु-११

३. मुक्ताफल ५

४. "पुष्टि-प्रवाह-मर्यादामार्ग" पर आधारित।

चित्तवृत्ति का स्वरूप लेकर वस्तुतः स्वयं प्रकाश होते हुए भी प्रकाश्य जैसी हो जाती है, स्वयं आस्वाद-स्वरूपा है किन्तु श्रीकृष्ण (एवं तत्सम्बन्धि) को विषय बनाने वाले आस्वाद का हेतु बनती है। यह भाव दो प्रकार से उत्पन्न होता है—१. प्रायः सब में साधन में अभिनिवेश से (प्रायिक) २. श्रीकृष्ण एवं भक्तों के अनुग्रह से (विरल)। यह अलौकिक होता है एवं सभी शक्तियों को अनायास जागृत कर देता है; उस भक्त में फिर कोई वैगुण्य नहीं रहता।

श्रीकृष्ण के प्रति यह भाव ही अतिशय ममत्व से प्रगाढ़ होने पर 'प्रेम' कहलाता है। कभी भाव की दशा में से पार हुए बिना भी साक्षात् भगवत्प्रसाद से प्रेम उदित होता है। सामान्य रूप से श्रद्धा से प्रारम्भ होकर, साधुसङ्ग, भजन-साधन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव के बाद प्रेमोदय—यह क्रम रहता है। जो भक्त विधिमार्ग से यहाँ तक आते हैं उनका प्रेम माहात्म्यज्ञान से युक्त (ऐश्वर्यबोधमिश्रित) होता है; जो रागानुगाभक्ति के सौभाग्य से समृद्ध हैं उनमें 'केवल प्रेम' उदित होता है।

श्रीश्री सनातन गोस्वामी के ग्रन्थ 'भागवतामृत' में भक्तिसिद्धान्त की गूढ़ माधुरी भी व्यक्त हुई है। यहाँ उसके आस्वादन का अवसर नहीं, नियति की अनुमति हुई तो "उज्ज्वल-नीलमणि" की भूमिका में वह हो पाएगा।

श्रीरूप के प्रमुख समकालीन तथा अद्वैत वेदान्त में से भक्ति में पहुँचे हुए महामहिम श्री मधुसूदन सरस्वती के 'भगवद्भक्ति-रसायन' का अतिसंक्षिप्त परिचय प्रथम खण्ड में दिया गया तब विस्तृत विवरण प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में देने का संकल्प व्यक्त किया गया था। वास्तव में भक्तिरसामृतसिन्धु की विशिष्टता हृदयङ्गम होने में भगवद्भक्तिरसायन में हुए दार्शनिक विवेचन का परिचय अवश्य उपयोगी है, किन्तु अब भी इस लेख के आयतन की मर्यादा ध्यान में रखते हुए सार-चखना ही हो पाएगा।

"श्रीमद्भगवद्भक्तिरसायन" का सार

ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण में ही मुकुन्दभक्तियोग को परम-पुरुषार्थ कहते हुए 'नवरसमिलितं वा केवलं वा' कह कर उस समय तक के रस-विवेचन का संग्रह क्रिया और 'निरुपमसुखसंविद् रूपम् अस्पृष्टदुःखम्' भक्तिरस का स्वरूप बताया है। यह भक्ति दुःखाभाव से भिन्न स्वतन्त्र परमानन्दमयी है। प्रसिद्ध चार (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) में तो 'पुरुषार्थ' संज्ञा उपचरित है वस्तुतः उनके द्वारा उत्पन्न 'सुखसंवित्' ही पुरुषार्थ है; भक्ति में अनुभूत होने वाला सुख तो समाधि-सुख से भी उत्कृष्ट है अतः परम पुरुषार्थ भक्ति ही है क्योंकि कर्मयोग का अष्टाङ्गयोग में, उसका ज्ञानयोग में, फिर ज्ञानयोग का भी अन्ततः भक्ति में ही पर्यवसान होता है—इसे श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत के वचनों से पुष्ट किया है। उस भक्ति का उदय भगवत्कृपा-साध्य ही है। सभी साधनों के फलस्वरूप द्रवीभूत मनोवृत्ति भगवदाकारा होने पर उसमें विभावादि के संयोग से 'रस' रूप में अभिव्यक्त परमानन्द साक्षात्कार-स्वरूप 'रति'-स्थायिभाव प्रकट होता है। वही 'भक्ति' है, जिससे बढ़कर और कुछ भी आत्मा ('पुरुष') का ईप्सित नहीं।

यह भक्ति ब्रह्मविद्या का ही पर्याय-मात्र नहीं है क्योंकि ब्रह्मविद्या-रूपा निर्विकल्प मनोवृत्ति केवल अद्वितीय आत्मतत्त्व के अपरोक्ष बोध का निकटतम साधन-मात्र बनती है, उसमें स्वयं में द्रवीभाव नहीं होता। जबकि भक्ति का प्रथम चरण है चित्त का द्रवीभूत होना; पिघला हुआ सुवर्ण जैसे अभीष्ट आकृति में ढलता है वैसे द्रवित शुद्धसत्त्वात्मक चित्त की भगवदाकार सविकल्पक वृत्ति भक्ति है; यहाँ 'विकल्प' विकार या अस्थिरता नहीं अपितु लचीलापन है, जिसमें 'लीला' की सभी सम्भावनाओं का सहज अवकाश है। भक्ति का फल है भगवद्विषयक प्रेम का प्रकर्ष और प्राणी-मात्र भक्ति का अधिकारी है—इस प्रकार आत्मा या ब्रह्म की सर्वव्यापिता (ईशावास्यमिदं सर्वम्) का जितना स्वीकार भक्ति-सिद्धान्त में है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं; क्योंकि जीवात्मा के देह-जाति-कर्म-परम्परा से रूंधे हैं अन्य सभी सिद्धान्त; केवल भक्ति की महिमा है जहाँ “शवादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते” (कुत्ते का मांस खाने वाला चाण्डाल भी 'भगवत्कृपा से' श्रद्धा से पिघले चित्त से हरिनाम लेने पर तत्काल सोमयाग के योग्य हो जाता है) ब्रह्मविद्या-पर्यन्त तो केवल साधनचतुष्टयसम्पन्न परमहंस परिव्राजक ही पहुँच सकते हैं।¹ फिर भक्तिसुखधारा का स्वाद सर्वदेश-काल-शरीर आदि में ब्रह्मविद्या के फल के समान पाया जा सकता है, यह सुख न कभी क्षीण होता है, न परतन्त्र है। भक्तिसुख से कभी वैराग्य न होना तो इसका उत्कर्ष ही सिद्ध करता है, दोष नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्या द्वारा 'आत्माराम' 'निर्ग्रन्थ' हो चुके हुए भी श्रीहरि के प्रति अहैतुक भक्त होते हैं²। (भा० १/७/१०)

भगवद्धर्म अर्थात् भगवद्गुण-श्रवणादि से द्रवीभूत हुए चित्त की भगवान् के प्रति धारावाही (तेल की धारा के समान अविच्छिन्न) वृत्ति ही भक्ति है।³ चित्त-द्रव्य (वस्तु) लाख के समान स्वभाव से कठिन है, तापक (उष्णता, विषयादि) के संयोग से पिघलता है तब किसी भी आकार में ढल जाता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि चित्त-लाक्षा को तपा कर पिघला देते हैं, उस दशा में जो भी आकृति वह ले वे वही स्थिर हो जाती है और जो रंग उसमें घुल जाय वही रंग स्थायी होता है, अतः द्रवीभूत चित्त में भगवद्रूप तथा उन्हीं के प्रति राग-स्नेह-आसक्ति का संस्कार पड़ जाये तो फिर नहीं छूटता। यह द्रवीभूत चित्त ही जब-“सर्वभूतेषु आत्मनः भगवद्भावं पश्येत्” सर्वत्र अपना भगवद्भाव देख ले तो वह उत्तम भागवत (भगवान् का) हो जाता है। वही सर्वदा ब्राह्मी स्थिति में रह सकता है।

1. स्वयं श्री मधुसूदन सरस्वती ऐसे अधिकार-सम्पन्न थे, उस अपरोक्षानुभूति का स्वाद चख चुके थे, तब श्रीकृष्णसाक्षात्कार पाकर उसका प्रकर्ष-प्रतिपादन स्वानुभूति से समृद्ध होकर किया, जो उनके अनेक वचनों में स्फुट होता रहा (“वंशी...कृष्णात् परं तत्त्वमहं न जाने”) और प्रकीर्ण उक्तियों में भी उस प्रकर्ष का स्वीकार व्यक्त हुआ—“अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः वयं हटेन दासीकृता”... “भगवता नीलाचलनायकेन अनुगृहीता।” “कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति।”

2. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

—(भा० १/७/१०)

3. यहाँ श्रीरूप प्रतिपादित भक्ति से अन्तर है कि किसी भी प्रकार से अविच्छिन्न वृत्ति भगवान् के प्रति प्रवाहित होने में कंस-शिशुपाल जैसे की भय-क्रोधादि आवेगों से उत्पन्न चित्तद्वृत्ति भी श्रीमधुसूदनमत में भक्ति कहलायेगी, जबकि श्रीरूप के अनुसार 'आनुकूल्य' सर्वथा अपेक्षित है।

चित्तद्रुति की कोटि पर भक्ति की कोटि निर्भर है। चित्त की द्रवावस्था ही प्रणय, अनुराग, स्नेह आदि शब्दों का अर्थ है। प्रणय रस्सी की भाँति भगवान् को बाँध लेता है, द्रवित चित्त में प्रविष्ट भगवदाकार फिर वहाँ से छूटता नहीं, मानो बँध जाता है। इस द्रवावस्था में प्रविष्ट भगवत्स्वरूप की प्रतीति तीन प्रकार की होती है—

१. सचराचर विश्व को भगवान् का विग्रह-रूप ही देखना।
२. प्रपञ्च मिथ्या है केवल भगवान् सत्य हैं—ऐसा समझना।
३. केवल भगवान् का ही दर्शन होना, प्रपञ्च का भान नहीं।

द्रवीभूत चित्त में स्थित हुआ भाव ही स्थायिभाव है, फिर वही परम आनन्द रूप से व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है। परमानन्द-स्वरूप भगवान् ही पूर्ण द्रवित चित्त में स्थायी-भाव रूप में पूर्ण रस बनते हैं। वास्तविक 'रस' यही है। लौकिक विषयों में रस की प्रतीति इसी सुखस्वरूप चिद्घन के आभास से ही होती है, माया का आवरण रहने से वहाँ भगवदाकार वृत्ति नहीं बन पाती, रसत्व न्यून रह जाता है।

वेदान्त के अनुसार 'रस'-ग्रहण की उक्त व्याख्या करने के बाद सांख्यदर्शन की दृष्टि से निरूपित किया है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कारण प्रत्येक वस्तु की सुख-दुःख मोहात्मक प्रतीति होती है, उसमें से सुखात्मक रूप से वस्तु द्रवीभूत चित्त में प्रविष्ट हो तब वह (चित्त) स्थायीभाव पाकर रस में परिणत होता है। यहाँ भी शुद्धसत्त्व में ही रसानुभूति पर्यवसित होती है।

जिन (तार्किक, मीमांसक, बौद्ध आदि) मतों में मन परमाणुरूप है उनके यहाँ रस-प्रतीति की व्याख्या नहीं बन पड़ती इसीलिये विश्लेषण द्वारा उनकी अप्रामाणिकता बताई है। वेदान्त तथा सांख्य में विषय-संयोग से मन का तदाकार होना निरूपित है, उससे चित्त की द्रवता एवं भगवदाकारता को समझना सरल है। द्रवित चित्त में अङ्कित हुआ भगवान् का रूप (उसी में अन्वित गुण-लीला आदि) स्थायी होता है, उसका बाह्य आधार सामने रहे या न रहे, मनोबुद्धि में समाया हुआ रूप सर्वदा रहता है, इसीलिये वह 'स्थायी' कहा गया।

चित्त का स्वभाव है विषयाकार होना; भक्ति-भावित चित्त में विषय की विषयता लुप्त होकर शुद्ध भगवदाकार ही रह जाता है जैसे अग्नि से तपने पर सोना-शुद्ध स्वरूप में रह जाता है, उसमें मिली खोट जल जाती है। इसीलिए भगवान् में आविष्ट मन भगवान् में ही लीन हो जाता है। समस्त वेदान्त-सिद्धान्त इस तथ्य का पोषक है। सभी प्रकार की साधना बाह्य विषयों के प्रति वैराग्य लाकर मोक्ष-द्वार पर्यन्त पहुँचाती हैं, किन्तु उतने से ही पूरी कृतकृत्यता नहीं होती, भक्ति का प्रकर्ष परमवैराग्य लाता है जिससे मोक्ष से भी वैराग्य हो जाता है; भक्ति-भावित अन्तःकरण वाले परमभागवत प्रेम की पराकाष्ठा-अवस्था में, स्वयं भगवान् द्वारा दिये जाते हुए सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य तो क्या सायुज्य (एकता) भी नहीं चाहते; इसीलिये पृथु का वचन है—“आपके भक्तों के हृदय-मुख से निकले आपके चरणकमलों का मकरन्द जहाँ नहीं है ऐसा कैवल्य मुझे नहीं चाहिये; बल्कि ऐसा कीजिये कि आप की कथा सुनने के लिये मेरे अयुत

(दस हजार) कान हो जायें।^१ ध्रुव^२, इन्द्र^३, वृत्र^४ आदि अनेकों के वचनों में भक्ति के आनन्द को ब्रह्मानन्द से उत्कृष्ट कहा गया है।

श्रीमद्भागवत के ही नारद-वचन को अपना कर भक्ति की साधना से साध्य पर्यन्त ग्यारह भूमिकायें कही हैं^५ फिर उदाहरण सहित—व्याख्या की है।

प्रथम उल्लास में यहाँ तक सिद्धान्त-विवेचन करने के बाद द्वितीय उल्लास में संक्षिप्त भक्तिलक्षण कहा—“द्रुतचित्त में प्रविष्ट होकर स्थिर हुई गोविन्दाकारता ही भक्ति है।”^६

चित्त के द्रवित होने के कारणों की भिन्नता ही भक्तिरस के भेद बनाती है। इनमें पहला है काम (द्विविध शृङ्गार) इस से रति, क्रोध या ईर्ष्या से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता के दो भेदों (निमित्त को नष्ट करने या उसकी प्रियता साधने का भाव) में से पहला द्वेष होता है दूसरा रति। फिर हैं—भय, पुत्रादि के प्रति वात्सल्य, सेव्यसेवक भाव, वात्सल्य तथा उससे मिश्रित दास्य एवं सख्य, चतुर्विध हर्ष (हास), विस्मय, चतुर्विध उत्साह (वीर), शोक, जुगुप्सा, शम—इस प्रकार बारह कारणों से बारह प्रकार की चित्तद्रुति ही भाव बनती है। वे ही स्थायिभाव हैं जो विभावादि द्वारा ‘रस’ बनते हैं। इनमें से धर्मवीर, दयावीर, बीभत्स और शान्त का विषय भगवान् न होने से ये भक्तिरस नहीं बनते। इसी प्रकार ईर्ष्या और भय से उत्पन्न द्वेष भगवद्विषयक होने पर भी चित्त की साक्षात् द्रुति के विरोधी होने से भक्तिरस नहीं। शुद्ध रौद्र तथा रौद्र-भयानक भी प्रीतिविरोधी होने से भक्तिरस नहीं बनते। शुद्ध तथा मिश्रित रूप से शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीति-भयानक, अद्भुत, वीर (युद्ध०, दान०), वत्सल, प्रेयान्, इतने ही भक्तिरस बनते हैं; इनमें सबसे अधिक बलवान् है शृङ्गार, उसी में रति की तीव्रता-तीव्रतरता स्फुट होती है। भक्तिरस—केवल सङ्कीर्ण, सङ्कीर्णमिश्रित, केवलमिश्र और शुद्ध—ऐसे चार प्रकार के हैं। पुनः भक्ति के अन्य चार प्रकार हैं—शुद्धसात्त्विकी, राजसी, तामसी और मिश्रित। फल की दृष्टि से भक्ति त्रिविध है—दृष्टफला, अदृष्टफला, उभयफला। इन सबका दृष्टान्तों द्वारा सूक्ष्म विवेचन है।

रति का स्वरूप है—रजस्-तमस् से रहित, शुद्ध सत्त्वमयी, सुख की अभिव्यञ्जिका, भगवान् को ही विषय करने वाली मति।^७

विरह में जिस अनुपात में दुःख होता है, उतना ही वह रति की गहराई का परिचायक होता है।

रति की मृदु-मध्य-तीव्र-इन तीव्रता की कोटियों के क्रमशः दृष्टान्त हैं—वैकुण्ठ, द्वारिका, श्रीमद् वृन्दावन में स्थित भक्त—नित्य-परिकर।^८

भक्ति की उत्पत्ति-विकास भेद का क्रम-निरूपण करते हुए कहा है—“यह निसर्ग, संसर्ग, औपम्य (सादृश्य), अध्यात्म (स्वरूपतः) अभियोग, (भावाभिव्यक्ति) सम्प्रयोग, अभिमान

^१ भा. ४/२०/२४, ^२ भा. ४/९/१०, ^३ भा. ७/८/४२; ६/१२/२२, ^४ भा. ६/११/२५; २६,

^५ भ. भ. रसायन १/३३-३६, ^६ भ. भ. भ. रसायन २/१, ^७ वही २/५८;

स्नेहस्यैव विकारः प्रिययोरत्यन्तभावनादनिशम्।

विरहासहिष्णुतात्मा प्रीतिविशेषो रतिर्नाम ॥ ५९ ॥

^८ भ. भ. रसायन-२/६०-६१

(भगवान् में अभिनिवेश) और समारोप (भगवान् के शब्द-स्पर्शादि) से उत्पन्न होती है। यह किसी एक विषय अथवा सबके समुच्चय को लेते हुए ६ प्रकार की होती है। पुनः शुद्ध और व्यामिश्र (उपाधि-मिश्रिता)—ऐसे दो प्रकार की रहती है।

निरतिशय आनन्दस्वरूप भगवान् की महिमा से अङ्कुरित होने वाली भक्ति भगवद्गुणों की अनन्तता के कारण वस्तुतः एकरूपा ही रहती है। विभावादि के योग में शुद्ध भक्तिरस होता है। सोपाधिक रति काम (शृङ्गार), सम्बन्ध (वत्सल, प्रेयान्) और भय (प्रीतिभय)—निमित्तों से तीन प्रकार की होती है। ये सभी यदि एक साथ व्यक्त हों तो पानकरस (विविध स्वाद-मिश्रण से बना मधुर पेय) की भाँति वह परम रस होता है।^१ ब्रजदेवियों (गोपियों) में यह परम रस स्पष्ट दिखता है। उनके चित्त को आलम्बन बनाने से अपना चित्त भी वैसा हो जायेगा।^२ अन्य रसों के विभावादि न रहने पर स्वरूपमात्र में स्थित रस शुद्धता में अधिक होने पर भी विलक्षण दसवीं स्थिति का होता है जैसे सनकादि में।^३ श्रीकृष्ण परमानन्दस्वरूप परमात्मा हैं, देव-मात्र नहीं, देवों में जीवता वर्तमान है, अतः “देवादिविषयक रति रस नहीं ऊर्जित (व्यञ्जना से प्रकाशित) भाव मात्र हैं”—ऐसा रसकोविदों (भरतादि) का मत लोक-परक है, परमात्मविषयक नहीं। वास्तव में तो कान्ता आदि विषयालम्बित रति में पूर्ण सुख का लेश-स्पर्श भी नहीं होता इसलिये वहाँ रसता पुष्ट नहीं होती, परिपूर्ण-रसमयी भगवद्विषया रति लौकिक क्षुद्र-रसों से उसी प्रकार अधिक बलवान् है जैसे खद्योतों (जुगुनुओं) की तुलना में सूर्यप्रभा।^४

इस उल्लास के अन्त में ग्रन्थकार ने कुछ कड़े शब्दों में उन रस-शास्त्रियों को प्रत्युत्तर दिया है जो ‘भक्ति’ को ‘रस’ नहीं मान पाते, कि—क्रोध-शोक-भय जैसी मनोदशायें जो साक्षात् सुख की विरोधी हैं उनमें जो थोड़े से अनुभव से ‘रस’ देख पाये वे लोग कैसे जड़ की भाँति उस वास्तविक रस को नहीं देख पाते जो अनुभव (तथा प्रमाण) से सहस्रगुना रस-स्वरूप सिद्ध है। वास्तव में वही ‘रस’ है जो वेदान्त तथा न्याय के मूर्धन्य मनीषियों को भी विवश करता रहा है अपने आकर्षण से। तभी तो न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली का भी मङ्गलाचरण हुआ:—

“नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।

तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहबीजाय ॥”

तृतीय (अन्तिम) उल्लास में ‘रस’ का विशिष्ट विवेचन किया है कि रस क्या है? कहाँ स्थित है? उसकी प्रतीति कैसी और किसके द्वारा होती है? परम्पराप्राप्त क्रम में ही ‘सुख’ जोड़ते हुए लक्षण कहा गया कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी आदि भावों के द्वारा सुख रूप में व्यक्त होता हुआ स्थायी भाव ही रस है। सुख आत्मस्वरूप है अतः उसका कोई आधार अपेक्षित नहीं, (इसीलिये पृथक् विषय भी नहीं)^५ उस सुख को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति का आधार

^१ भ.भ.र. ६२-६९, ^२ वही-७१, ^३ वही-७३

^४ वही ७६-७७, ^५ वही ७८-७९

^६ “मधुर-मधुरिमा द्वय वा अद्वय? कौन कौन को विषय कि आश्रय?”—ऊर्मिला (प्रकीर्ण अभिव्यक्ति)

सामाजिकों (प्रेक्षकों, श्रोताओं) का मन है।¹ काव्य के अर्थ में रहने वाले रति आदि स्थायी भाव लौकिक हैं, पर रस का अनुभव करने वाले प्रेक्षक आदि में ये स्थायी भाव अलौकिक हैं क्योंकि जिसका बोध कराया जा रहा हो—वह अर्थ सुखद हो चाहे दुःखद हो किन्तु सहृदय 'सामाजिक' में वे वस्तुतः सुखजनक ही होते हैं क्योंकि देश-काल-पात्र से परे जा कर साधारणीकरण दशा में आत्मस्वरूप के ग्रहण बिना रसानुभूति बनती ही नहीं। विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव के सहित स्थायीभाव का ग्रहण करने वाली सत्त्वगुणमयी जो मति (मनोवृत्ति) बनती है वह अगले ही क्षण में एक उत्तम (सबसे ऊपर=परे) सुख को व्यक्त करती है वह सुख ही रस है, कोई उस वृत्ति को ही रस मान लेते हैं जिसमें सुखात्मक रस अभिव्यक्त होता है। स्थायीभाव को ही रस मानना औपचारिक (गौण अर्थग्रहण) है। क्षणार्थ का व्यवधान और क्रम दिखाई नहीं पड़ता इसीलिये 'रस' का वास्तविक स्वरूप पहचाना नहीं जाता। यह असंलक्ष्यक्रम से व्यञ्जित ध्वनि है क्योंकि सामान्य रूप से वस्तु और अलङ्कार का व्यवधान ध्वनि में स्पष्ट होने से क्रम दिखाई पड़ता है, वृत्ति में सुख की झलक में उतना भी क्रम पकड़ में नहीं आता।

भगवद्भक्तिरसायन में हुए इस सम्पूर्ण विवेचन में भक्तिरस का जो चित्रण दर्शन एवं काव्यशास्त्र की समन्वित पृष्ठभूमि में किया गया वह लेखन-समय की दृष्टि से समकालीन होने पर भी एक प्रकार से भक्तिरसामृतसिन्धु की भूमिका बाँधने के तुल्य है, जिसका और परिष्कृत प्रस्तार श्रीरूप गोस्वामी के ग्रन्थों में सामने आया है। श्रीमधुसूदन सरस्वती के भी मनोभूमि के संघटक संस्कार गौड (बङ्गाल) के प्रायः समान ही क्षेत्र के थे ही, जो काशी में अद्वैत-शिखर पर्यन्त पहुँचकर फिर उसी सीढ़ी से भक्ति-मन्दिर में आये थे, अतः चिन्तन की प्रकृति में सजातीयता स्वाभाविक थी।

(२) भक्ति के सङ्घटक उपादान

(क) स्थायी भाव

श्रीरूप के अनुसार सर्वरस-सामान्य स्थायीभाव रति (श्रीकृष्णरति) शुद्धसत्त्वविशेषात्मक है, जो स्वरूपशक्ति का धर्म है। अर्थात् यह (भक्तिरस की स्थायी भाव रूपा रति) जीव में स्वतः निहित नहीं, भगवान् की कृपा का ही वरदान है। जीव स्वयं तटस्थ शक्ति है अतः भाव उसकी प्रकृति में नहीं, भगवदनुग्रह का ही फल है।

(ख) आलम्बन-विभाव

रस-सिद्धान्त में रस के आश्रय-विषय के रूप में आलम्बन-विभाव के विभाग का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। परम्परागत काव्यशास्त्र में इस विभाग का स्पष्ट विवेचन नहीं है। आलम्बन-विभाव से प्रायः रस का विषय ही समझा जाता था, आश्रय-पक्ष की पृथक् पहचान उतनी नहीं थी।

¹ भ. भ. रसायन ३/१-३, तथा द्र० तै० उ० २/६/१ "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति",
"एष ह्येवानन्दयति"

वास्तव में 'रसास्वाद' में आश्रयालम्बन भी रस के विभाव (कारण) का वैसा ही अङ्ग है जैसा विषयालम्बन, क्योंकि आश्रय ही तो आस्वाद की विशिष्टता का निवेदक होता है। काव्यशास्त्रियों में सबसे पहले भोज ने इस पक्ष एवं विभाग पर विचार उठाया है।^१ फिर रसार्णवसुधाकर^२ तथा चमत्कारचन्द्रिका में भी इसे स्वीकार किया गया है। श्रीरूप के प्रतिपादन में इस विभाग का मौलिक महत्त्व है, क्योंकि साधक को 'सिद्ध' भक्त (आश्रय) के भाव से तदात्मता साधनी होती है।

इस विषय-आश्रय-विभाग का दोहरा महत्त्वपूर्ण पहलू है कि भक्तों के प्रेम की दृष्टि से भगवान् विषय होते हैं और भक्त स्वयं आश्रय होता है; भगवान् की ओर से भक्तों के प्रति प्रेम में भगवान् आश्रय होते हैं और भक्त विषय। किन्तु इस पक्ष का विवेचन श्रीरूप ने भी नहीं किया है क्योंकि श्रीचैतन्यमत की साधना-पद्धति में भक्त किन्हीं नित्यसिद्ध भक्त-पार्षद के अनुगत होने में ही दासानुदास-रूप में ही तदात्मभाव रखता है, भगवान् के भक्त के प्रति 'भाव' से तादात्म्य का प्रसङ्ग यहाँ उठता नहीं। इसीलिये श्रीरूप के प्रतिपादनों में सर्वत्र भक्त आश्रयालम्बन हैं और भगवान् विषयालम्बन। इस विषयालम्बनता का उत्कर्ष श्रीवृन्दावन-लीला में है, जहाँ सभी भक्त ऐश्वर्यज्ञान से सर्वथा अनुपहित हैं, शुद्ध प्रेममात्र से भरे हैं।

(ग) व्यभिचारी भाव तथा (घ) अनुभाव—इसमें श्रीरूप-कृत प्रतिपादन अन्य सब काव्यशास्त्रियों के समान ही है।

(ङ) सात्त्विक भाव—सात्त्विक भावों में उनकी उत्कटता के अनुपात से 'दीप्त' 'उद्दीप्त' आदि प्रभेद करना—श्रीरूप का मौलिक विश्लेषण है।

(च) भक्तिरस के आस्वाद के लिये योग्यता-अयोग्यता—परम्परागत काव्यशास्त्र में जिस प्रकार रस-बोध के अनुकूल 'वासना' या संस्कार से युक्त व्यक्तियों को रसास्वाद के योग्य माना है, उसी प्रकार श्रीरूप का सिद्धान्त है कि पूर्वजन्म में या इस जन्म में जिनमें 'भक्ति की वासना' उदित हुई है वे भक्तिरसास्वाद के अधिकारी हैं। जिनका चित्त संस्कार-ग्रहण के अनुकूल मृदु है, उन्हीं में यह वासना जागती है और वे ही भक्तिरस का आस्वाद पा सकते हैं। मीमांसक में यह योग्यता नहीं मानी गयी, क्योंकि वे ईश्वर या भगवान् को नहीं मानते। कोरे ज्ञानमार्ग से भी जिनके हृदय कड़े पड़ चुके हैं, भावना सूख चुकी है, वे भी भक्तिरस-आस्वादन में अनधिकारी माने गये।

(३) द्वादश भक्तिरस

श्रीरूप० ने पूरी महिमा के साथ भक्तिरस के बारह वेषों का सर्वाङ्ग निरूपण किया; उन्हें दो श्रेणियों—मुख्य (पाँच) तथा गौण (सात) में सजाया; प्रत्येक के स्वरूप, आश्रय, विषय का

^१ द्र० शृङ्गारप्रकाश २२/..., ^२ र. सु. १/६०

सविधि विवेचन किया; फिर सभी रसों के परस्पर संवादी-विवादी स्वभाव को भी आँका। रसशास्त्र को श्रीरूप द्वारा दी गयी इस मौलिक देन का उनके पूर्ववर्ती रस-कोविदों के मतों के सन्दर्भ-सहित संक्षिप्त अवलोकन प्रसङ्गतः प्राप्त है। ग्रन्थ के क्रम के अनुसार ही यह देखना सुगम होगा।

मुख्य भक्तिरस

१. शान्तभक्तिरस

चित्त की निर्विकल्प दशा में विद्यमान 'शम'-रूपा रति ('शान्ति'-रति) ही शान्तभक्तिरस है। यहाँ लौकिक चेतना के संकल्प-विकल्प समाप्त हो चुके हैं और भगवत्सेवा का चित्संकल्प अभी उदित नहीं हुआ है। भगवान् के प्रति ममत्व भी बना नहीं है। श्रीकृष्ण यहाँ नारायण, परब्रह्म, सबके आश्रय रूप में ही पहचाने जा रहे हैं अतः शान्तभक्त के चित्त में उनसे कोई अपनेपन का सम्बन्ध आकृति नहीं ले पाया है। 'शान्ति' शुद्धा-रति का ही एक प्रकार है, इसीलिये इस का प्रीति-आदि से कोई सम्पर्क नहीं है। फिर भी इसके रति-पक्ष के नाते कहीं न कहीं प्रेम का संस्पर्श अवश्य है ऐसा श्रीरूप ने देखा है। ममत्व-सम्बन्ध की कोई आकृति न बन पाने पर भी अविशेषित प्रेम अवश्य सम्भव है। ऐसे प्रेम में दो लक्षण रहेंगे ही—(१) वह अपने आस्पद (विषय) के आभ्यन्तर प्रकर्ष पर आधारित होगा, किसी निजी आकर्षण या व्यक्ति-आसक्ति पर नहीं; (२) आस्पद के दर्शन या अनुभव से ही शान्ति रति का आश्रय स्वयं धन्य-धन्यता में मग्न होगा, आस्पद के लिये सुखकर कुछ करने की अभिलाषा नहीं उठेगी। इसी प्रकार की प्रीति शान्तिरति है।

इसीलिये शान्तभक्तिरस में केवल ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार है, चित्त द्रवित नहीं होता, भगवान् की हृदयाकर्षिणी लीला का भी साक्षात्कार नहीं होता, जैसा कि प्रीत-प्रेयान् आदि अन्य भक्तिरसों में हुआ करता है। अतः शान्तभक्तिरस ब्रह्मानन्द एवं लीलानन्द का मध्यस्थ है। यह केवल ब्रह्मानन्द नहीं, क्योंकि यहाँ निर्गुण-निराकार परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं बल्कि नित्य रूप-गुण-शाली सच्चिदानन्द विग्रह का दर्शन है, साक्षात्कार का विषय परम आत्मा है और आश्रय जीवात्मा। कैवल्य या ब्रह्मानन्द की तरह यहाँ दोनों एक नहीं हो गये हैं; किन्तु इस रस-दशा में चित्त इस स्थिति में भी नहीं रहा है कि भगवान् की लीला में सहभागी हो सके, क्योंकि किसी सम्बन्ध का और तदनु रूप प्रेमाभिव्यञ्जक सेवा का अवकाश चेतना में नहीं है। भक्त यहाँ भगवान् के दिव्य रूप-गुण-कर्म का स्तब्ध दर्शक-मात्र है। फिर भी इस रस में अनुभूत होने वाला आनन्द योगी और ज्ञानी के समाधि-सुख से बढ़कर है, क्योंकि इस रसानन्द में गहराई एवं सघनता अधिक है। फिर भी प्रभु के सेवक, सखा, पिता-माता आदि के आनन्द से यह न्यून है। यहाँ परमात्मा के चतुर्भुज नारायण-रूप का साक्षात्कार होता है, जबकि दास आदि को द्विभुज श्रीकृष्ण अपने निकट दिखते हैं, उनसे नित्य सम्बन्ध बन पाता है, प्रेम की परस्पर अभिव्यक्ति हो पाती है। शान्तिरति में भक्त यह अनुभव नहीं करता कि भगवान् को मेरे द्वारा

सेवा की आवश्यकता है, इसीलिये उनके रूप-गुण के प्रति 'अहोभाव' मयी प्रीति से हृदय भरा होने पर भी अभिव्यक्ति का कोई पथ खुलता नहीं, अतः उदासीनता न होते हुए भी निष्क्रियता रहती है। उधर भगवान् भी यहाँ 'सच्चिदानन्द-सान्द्र' स्वरूप स्थित 'आत्मारामशिरोमणि' विभु हैं जो आनन्दास्वाद के लिये भक्त-सापेक्ष नहीं, भक्तों के प्रति उनकी प्रीति की अभिव्यक्ति को भी अवकाश नहीं।

शान्तभक्तिरस के आश्रयालम्बन हैं तापस और आत्माराम सिद्ध। आत्माराम ब्रह्मानन्द में निमग्न हैं, कभी स्वयं भगवान् या किन्हीं भागवत (भक्त) की कृपा हो तब ब्रह्म का नारायण-स्वरूप दर्शन कर पाते हैं और अद्भुत आनन्दमयी कृतार्थता से अभिभूत होते हैं। तापस वे हैं जो मोक्षार्थी हैं, उसके साधन रूप से भक्ति अपनाते हैं, उनमें भी आत्माराम-कृपा से शान्त-भाव की एक कला उदित होती है।

इस विवरण से इतना स्पष्ट होता है कि शान्तभक्तिरस का आस्वाद वे ही पाते हैं जिन्हें पहले योग अथवा ज्ञान मार्ग में सिद्धि प्राप्त हुई है अथवा वैसी साधना (मोक्षप्राप्ति के लिये) कर चुके हैं। इसलिये वास्तविक शुद्ध-भक्ति उनमें नहीं है। इसीलिये श्रीजीव० ने परमात्मसन्दर्भ में इसे 'ज्ञानभक्तिरस' संज्ञा दी है।

इस रस में हृदय की ऊष्मा और उत्साह की समृद्धि नहीं, अतः सात्त्विक भावों के उत्कर्ष तथा 'विरह'-रूपी प्रेमशिखर का कोई अवकाश नहीं।

२. प्रीतभक्तिरस

सामान्य रूप से इसे 'दास्य' का प्रतिरूप माना जाता है, किन्तु श्रीरूप ने इसी में बालक की पिता-माता के प्रति प्रीति को भी ले लिया है (जहाँ भक्त बालक है भगवान् पिता-माता), शिष्य की श्रीगुरु के प्रति भक्ति भी इसी के अन्तर्गत है।

भगवान् के प्रति अनन्य ममता प्रीतभक्तिरस का स्वरूप है। सेवकों की स्वामी के प्रति प्रीति 'सम्भ्रम' (सम्मानभाव)-मयी होती है और छोटों (पुत्रादि) की बड़ों (पिता आदि) के प्रति प्रीति गौरवमयी। यह सम्मान, गौरव की भावना ही इन भक्तों की प्रीतभक्तिरस-कोटि की निर्धारिका है। यहाँ दोनों प्रकारों में भगवान् सम्माननीय (होने के नाते बड़े स्थान पर) हैं। इसीलिये पुत्र-आदि अभिमान वाले भक्त भी वत्सल-भक्ति के अन्तर्गत न कहे जा कर इस श्रेणी में गिने गये। 'सम्मान' में ऐश्वर्य का पुट रहता है, उसी से कुछ दूरी भी बनी रहती है। फिर भी यह रति एक सीमा तक 'राग'-पर्यन्त उठती है। उसी मर्यादा में यहाँ वियोग का भी अनुभव होता है। इसी दृष्टि से यह शान्तभक्ति से उच्चतर है।

३. प्रेयान् भक्तिरस

सख्य-भाव के द्योतक इस रस में प्रीति के आस्पद (विषयालम्बन) भगवान् को भक्त अपने बराबर का साथी समझता है। श्रीकृष्ण के सखा ही इस रस के आश्रय हैं। इनकी अनेक श्रेणियाँ

श्रीरूप० द्वारा कही गयी हैं। यह सख्यरति 'अनुराग' में परिणत होती है। भगवान् से घनिष्ठता की दृष्टि से यह प्रीतभक्ति से उच्चतर है।

४. वत्सलभक्तिरस

इसमें भक्त स्वयं को बड़ा रक्षक, पोषक, सम्हालने वाला और भगवान् को छोटा, लालनीय, रक्षणीय, सम्हालने योग्य मानता है, अपने प्रीति के आस्पद लाडले बेटे कृष्ण की रक्षा और देख-भाल के लिये व्यग्र रहता है। आलवार भक्तों में श्रीविष्णुचित्त की एक उक्ति है—“ओ मेरे लाडले! तेरी सुन्दरता को कहीं नज़र न लगे! कहीं कोई तेरी शक्ति चुरा न ले, कोई तेरा यश न चुराये! आ मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ, जैसे पिता-माता अपने बच्चे को असीसते हैं। वही दुलार मुझे तेरे प्रति खींच रहा है।” यह वत्सल रति का स्पष्ट उदाहरण है। भगवान् के प्रति अति-प्रगाढ़ स्नेह उनके बड़ेपन और ऐश्वर्य का भान भुला कर उनके प्रति कोमल रक्षा-भावना जगा देता है, तब भगवान् और भक्त के बीच रक्षक और रक्षणीय का सम्बन्ध उलट जाता है।

५. मधुरभक्तिरस

मुख्य भक्तिरसों में श्रेष्ठ इस कान्त-कान्ता-भावाधारित रस के सम्पूर्ण विवेचन के लिये श्रीरूप० ने पृथक् ग्रन्थ ही रचा है—श्रीउज्ज्वलनीलमणि।^१ इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ (भ. र. सिन्धु) में इसका अतीव संक्षिप्त प्रतिपादन है। उसका कारण कहा है कि—जो व्यक्ति सांसारिक राग आदि से निवृत्त नहीं हो चुके हैं वे इस रस के चिन्तन के अधिकारी नहीं, क्योंकि वे इसे लौकिक शृङ्गार-तुल्य मान बैठेंगे और जो ज्ञान द्वारा निवृत्त हो चुके हैं उनके लिये यह अनुपयोगी है। यह रस सामान्य जन के लिये दुरूह है, रहस्यमय है, हर-किसी के सामने उद्घाटित नहीं किया जा सकता, अतः सामान्य मति वालों से गोपनीय है। अप्रतिम सौन्दर्य-लीला-रसास्वाद-चातुरी के आश्रय श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रिया ही आश्रय तथा विषय दोनों प्रकार से मधुररति के आलम्बन हैं।

गौण भक्तिरस

पहले कहा गया है कि श्रीरूप ने परम्परागत उन सात रसों को गौण भक्तिरस श्रेणी में लिया है जिनका भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध स्थायी नहीं एवं जो प्रीति से सीधे जुड़े नहीं हैं; इसीलिए उन्हें 'गौण' कहा भी गया। इनका विवेचन भी ग्रन्थ में संक्षेप में ही हुआ है।

गौण रसों का कोई सुनिश्चित स्थिर आधार नहीं है; प्रमुख पाँचों रसों के आधारों में ये गौण रस एक अथवा अनेक एकसाथ भी, कभी-भी अभिव्यक्त होते रहते हैं।

^१ श्री उज्ज्वलनीलमणि का प्रकाशन प्रस्तुत ग्रन्थ के बाद मनोनीत है ही, उस की भूमिका में इस रस का सम्यक् विवेचन किया जायेगा।

१. हास्यभक्तिरस

विभावों द्वारा पुष्ट हुई हासरति हास्यभक्तिरस बनती है जब श्रीकृष्ण अथवा उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों की चेष्टायें श्रीकृष्ण को प्रमुदित कर हँसाने वाली होती हैं। इनमें अधिकतर आश्रय बालक तथा बड़े लोग होते हैं, कभी स्वयं श्रीकृष्ण एवं कभी गम्भीर व्यक्ति (मुनिजन) भी हास्य के आश्रय होते हैं। यहाँ हास्य के छह प्रकार (उत्तरोत्तर अधिक) बताये गये हैं जिनके आश्रय त्रिविध कहे हैं। नाटकचन्द्रिका में कैशिकीवृत्ति के अन्तर्गत हास्यरस का विस्तृत विवेचन है। हास्यरस का मूल शृङ्गार में ही माना गया है।

२. अद्भुतभक्तिरस

केशव की लोकोत्तर लीलाओं से भक्तों में प्रकट हुई विस्मय-रति अद्भुतभक्तिरस में परिणत होती है यह रस सभी प्रकार के भक्तों के अनुभव में आ सकता है। अवश्य ही प्रीति के आस्पद हरि के ही विशेष शक्ति को प्रकट करने वाले कार्य विस्मय एवं अद्भुतभक्तिरस की सृष्टि करते हैं, किसी अप्रिय के ऐसे कार्यों से चित्त में विस्मय नहीं होता।

३. वीरभक्तिरस

उत्साह-रति की परिणति वीरभक्तिरस में है जो चार प्रकार का देखा गया—युद्धोत्साह, दान०, दया०, धर्म०। इन सभी के आश्रय पाँचों मुखरसों के आलम्बनों में से कोई भी हो सकते हैं। किसी भी उत्साह का मूल प्रेरक श्रीहरि को प्रमुदित करना हो तभी वह भक्तिरस श्रेणी में आता है।

४. करुणभक्तिरस

“अतिस्नेहः पापशङ्की” की नीति से ही जब परमप्रीति के आस्पद श्रीकृष्ण के भक्तों को अपने पुत्र, सखा या स्वामी पर किसी विपत्ति की आशङ्का होती है तब शोक-रति करुणभक्तिरस में परिणत होती है। शान्तभक्त कभी इस रस का अनुभव नहीं करते क्योंकि उनमें श्रीहरि का ऐश्वर्यबोध प्रबल रहता है, अतः उन पर विपत्ति की शङ्का वहाँ निर्मूल है।

‘शोक’ के लिये मूल में ‘रति’ होना अनिवार्य है, ‘हास्य’ बिना रति के भी सम्भव है। रति की उत्कटता जितनी होगी उतनी ही गहराई शोक की होती है। इस शोक की पृष्ठभूमि में स्नेह के आधिक्य से ही ऐश्वर्य-बोध लुप्त हुआ रहता है, ऐश्वर्य का अज्ञान या अविद्या करुणभक्तिरस का कारण नहीं।

यह शोक की गहराई भी अपने प्रकर्ष में उसी प्रकार आनन्द की उद्भावक होती है, जिस प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार में विरह-दुःख की असह्यता अन्तस्तल में मिलन-सजातीय आनन्द लिये रहती है। वस्तुतः “यह दुःख भी उन्हीं प्रियतम का दिया हुआ है, हम दुःख सहें—इसमें यदि उन्हें सुख है तो यह दुःख भी प्रिय है”—ऐसी गूढ़ भावना विरह में निहित रहती है, वह आनन्द-स्रोत में चेतना को लीन करती है।

५. रौद्रभक्तिरस

भक्तों के हृदय में ऐसी क्रोध-रति रौद्रभक्तिरस का रूप लेती है जो क्रोध मूलतः श्रीकृष्ण के हित या सुख से सम्बद्ध हो, अथवा श्रीकृष्ण के, अपने या प्रियजनों के अहित के प्रति हो।

इस 'हित' 'अहित' की चिन्ता से अभिभूत कोई भी भक्त इस रस का आश्रय हो सकता है। वास्तव में क्रोध का सीधा सम्बन्ध 'रति' से नहीं है, फिर भी परम्परागत रसों को स्थान देने के लिये श्रीरूप० ने युक्ति से उसमें भी भक्ति का बीज दिखा दिया है। यही स्थिति भयानक भक्तिरस की भी है।

६. भयानकभक्तिरस

श्रीकृष्ण के सुख में बाधक या उनसे वियोग कराने वाला कोई अपराध हुआ हो तो दास (सेवक) भक्तों में, तथा श्रीकृष्ण के अहित की आशङ्का उत्पन्न करने वाले प्राणी या परिस्थिति को देखकर प्रेमी भक्तों (सेवक सखा, पिता-माता, प्रेयसीगण) में भयरति का उद्रेक होता है जो भयानक-भक्तिरस में परिणत होता है।

७. बीभत्सभक्तिरस

शान्तभक्तिरस के आलम्बन भक्तों में जो ईश्वर से विमुख करने वाली परिस्थितियों एवं अशुचि, घृणित वस्तुओं के प्रति जुगुप्सा रति उत्पन्न होती है, वही विभावादि से पुष्ट हो कर बीभत्सभक्तिरस बनती है।

वस्तुतः श्रीकृष्णरति से जुगुप्सा का क्रतई लेन-देन नहीं, फिर भी यह सम्पर्कसूत्र देखा गया है कि जिन भक्तों के हृदय श्रीकृष्णरति से पवित्र, शुद्ध हो चुके हैं उन्हें संसार की लेशमात्र भी अशुद्धि सहन नहीं होती, अतः शारीरिक-मानसिक अशुचिता की स्थिति से उन्हें घृणा होती है।

सिद्धान्ततः ये सातों गौण रस वास्तव में भक्तिरस कोटि के नहीं, केवल काव्यशास्त्र-परम्परा के निर्वाह के लिये इनमें भी भक्ति के सम्बन्ध-योग्य बीज खोज कर श्रीरूप० की विलक्षण प्रतिभा ने इन्हें भक्तिरस बना लिया, स्वरूपतः ये व्यभिचारी-भाव कोटि के ही हैं।

रसों में परस्पर मैत्री और वैर

रसशास्त्रीय विवेचन में श्रीरूप० द्वारा प्रवर्तित नवीन पथ एवं रस-संख्या में नवीनीकरण का एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है यह चिन्तन भी। इस पक्ष पर पर्याप्त विशद विचार है, जिसका सार प्रस्तुत खण्ड के परिशिष्ट-क में यथास्थान कहा गया है। परस्पर संवादी (मित्र) रसों के मिश्रण से रस का आस्वादन अधिक समीचीन होता है, और विरोधी से रसास्वाद में बाधा आती है इसी दृष्टि से यह समस्त विवेचन किया गया है।

इसके पश्चात् इसी लहरी में मुख्य और गौण रसों के परस्पर अङ्ग-अङ्गी भाव का भी मौलिक विवेचन है। उसका अभिप्राय यही है कि दो रसों का मिश्रण सर्वथा समतोल तो होता नहीं, किसी प्रधान रस में कोई दूसरा रस अल्पमात्रा में साथ होता है तो प्रधान के आस्वाद में उत्कर्ष आता है। यह प्रधान और गौण का सम्बन्ध मुख्य पाँच और गौण सात रसों में किन्हीं भी दो, तीन अथवा अधिक में हो सकता है। अर्थात् कोई मुख्य रस प्रधान (अङ्गी) हो तो उसके साथ उसके संवादी रसों में से कोई भी (मुख्य या गौण) रस उसके अङ्ग हो सकते हैं, इसी प्रकार कोई गौण रस भी प्रधान (अङ्गी) हो तो कोई मुख्य रस उसके अङ्ग हो सकते हैं। केवल श्रीकृष्ण सभी (परस्पर मित्र एवं वैरी भी) रसों के एकसाथ भी आश्रय हो सकते हैं, क्योंकि वे अचिन्त्य पराशक्ति के आधार हैं। इन सम्भावनाओं के विविध उदाहरण इस लहरी में दिये गये हैं।

ग्रन्थ की अन्तिम लहरी में 'रसाभास' की स्थिति पर विचार है। अयोग्य आश्रय-विषय में जब आपाततः किसी रस के समान वर्णन हो तो विपरीतता के कारण वह विकृत होता है उसे 'रसाभास' संज्ञा दी गयी है, अर्थात् वहाँ उस रस की मिथ्या प्रतीति भले हो वस्तुतः वह रस नहीं है। उसके भी तीन प्रकार एवं स्तर देखे गये हैं—उपरस, अनुरस एवं अपरस जो क्रमशः उत्तम, मध्यम, अधम हैं। रसाभासों के विवेचन का उद्देश्य संभवतः यही है कि साधक (और कवि) को चिन्तन सुषम एवं रसात्मक बनाये रखने के लिये किन सम्भावनाओं से विरत रहना चाहिये।

रस-सम्बन्धी विवेचन में रसों के विनियोग-विषयक (नाट्यशास्त्र में चर्चित) भारती आदि चारों वृत्तियों पर विचार प्रासङ्गिक होते हुए भी (ग्रन्थ-विस्तार-भय से) उनके लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ (नाटकचन्द्रिका) का उल्लेख-मात्र कर दिया गया है।

'कैसे कहूँ, गागर महँ सागर आव न जतन करोर किये'

अतः यही ग्रन्थ का भी उपसंहार है और इस लेख का भी।

कृतज्ञता-ज्ञापन

श्रीश्रीरूप गोस्वामी की प्रमुख-ग्रन्थ-त्रयी के प्रकाशन-यज्ञ में सम्पादन आदि सेवा का प्रिय-अवसर एवं प्रेरणा का सम्बल जिन्होंने दिया, 'इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र' जिनकी भारत-वैभव-पारखी दृष्टि की उपज है, स्वयं जो अपने जीवन के सभी कार्यकलापों द्वारा भारतीय-संस्कृति के संरक्षण-यज्ञ में आहुति बनी रह कर सहृदयों के लिये पथ-प्रदर्शिनी ज्योति-शलाका हैं—वे वस्तुतः भारतरत्न-स्वरूपा (डॉ.) श्रीमती कपिला वात्स्यायन सर्वप्रथम कृतज्ञता-आस्पद हैं।

इस संस्था के पाँच विभागों में से 'जनपदसम्पदा' में ब्रज-प्रकल्प के अन्तर्गत संकल्पित प्रकाशनों में श्रीरूप-गोस्वामी-ग्रन्थत्रयी के प्रथम ग्रन्थ का यह द्वितीय खण्ड है। इसके तृतीय खण्ड में—भ. र. सिं. की तीनों अतीव महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीकाओं का मूल (हिन्दी में विमर्श तथा विशेष टिप्पणियों सहित) प्रकाशित होना संकल्पित है।

इस ब्रज-प्रकल्प के समन्वयक आचार्यश्री श्रीवत्स-गोस्वामी (श्रीरूपदि षड्गोस्वामी-शृङ्खला के वर्तमान सूत्र) के सम्पूर्ण सहयोग का साभार उल्लेख करती हूँ।

जनपदसम्पदा की परामर्शिका श्रीमती कृष्णादत्त के सतत सहयोग के प्रति कृतज्ञ हूँ। कलाकोष के समन्वयक डॉ. सातकड़ि मुखोपाध्याय ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन-क्रम में बहुविध रीतियों से अपने विद्या-वैदग्ध्य तथा अनुभवसमृद्धि का लाभ दिया है, उसके लिये हृदय-सहित नतमस्तक हूँ।

श्रीश्रीरूपगोस्वामी द्वारा रसशास्त्र एवं भक्ति के 'सम्प्रयोग' (सम्मिलन) का जो पथ उद्घाटित हुआ, इसके प्रतिपाद्य तथा घटक तत्त्वों के विषय में सैद्धान्तिक उन्मेष की कृपा जैसे प्रारम्भ में (१९५०-५८) श्रीचैतन्यसम्प्रदायाचार्य पूज्यपाद श्रीपुरीदास जी से पाई थी, उसी प्रकार अब इन ग्रन्थों का नवीन प्रकाशन-प्रसङ्ग उपस्थित होने पर चित्त में छाये हुए चिन्तन-कुहक में से सत्य-सूर्य को उद्भासित करने में—श्रीदक्षिणामूर्ति-पीठ के मूर्धन्य, (महामण्डलेश्वर) तत्त्वचिन्तन में विदग्ध स्वानुभवी पूज्यपाद स्वामी महेशानन्द गिरि जी से बहुधा परामर्श-विमर्श-प्रकाश का आशीर्वाद पाया। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन में वाणी पङ्गु है, अनन्त प्रणाम ही निवेदित हैं।

इ. गाँ. रा. कला केन्द्र के वाराणसी कार्यालय की शोध अधि० डॉ. ऊर्मिला (मेरी अनुजा) शर्मा ने इस ग्रन्थकार्य में आदि से अन्त तक सभी विधाओं-अवस्थाओं (अनुवाद, अन्वय, परिशिष्ट-निर्माण, प्रेसकॉपी-प्रस्तुति आदि) में पूरा सहयोग दिया है; इधर बढ़ती जा रही मेरी अस्वस्थता तथा आँखों की दुर्बलता यदि और आगे बढ़ी तो प्रूफ-संशोधन आदि शेष कार्य भी ऊर्मिला ही पूरे करेगी—ऐसा विश्वास है, क्योंकि बचपन से मेरे द्वारा सम्पादनादि कार्यों में यह भलीभाँति प्रशिक्षित होती रही है। मेरे स्नेहभरे आशीर्वाद सदा उसके साथ रहेंगे।

अन्य सभी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोगियों के प्रति सस्नेह धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

मार्गशीर्ष-पूर्णिमा, गुरुवार, २०५५
(३ दिसम्बर, १९९८)

— प्रेमलता शर्मा*
'आम्नाय' धर्मजित् नगर,
करौंदी, वाराणसी-५

* पूज्या प्रेमलताजी के द्वारा इस द्वितीय खण्ड की भूमिका के विषय में समय-समय पर स्वयं लिखे अंशों, स्फुट रूप में कहे गये, प्रकीर्ण रूप से लिखवाये एवं समझाये गये तथा "यह कहने वाली हूँ..." कह कर चर्चित विचार-बिन्दुओं एवं अभिव्यक्तियों को, (तत्सम्बन्धी अध्ययन तथा इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के अनुभवी मनीषियों के परामर्श के अनुरूप) संयोजित-सङ्कलित करके इस लेख का प्रस्तुत रूप बना है।

एक ही लेख में बहुत-कुछ कहने की अभिलाषा के कारण (और लेख का कलेवर अत्यधिक न बढ़े इस दृष्टि से भी) संस्कृत-शैली का सहारा लेना पड़ा, इस से भाषा कुछ बोझिल हो गई एवं अनेक संस्कृत उद्धरणों का हिन्दी अनुवाद नहीं दिया जा सका— इस से जिन पाठकों को असुविधा होगी उन से क्षमायाचना करती हूँ। प्रस्तुत खण्ड के प्रूफ-संशोधन के समय विविध प्रकार की संख्याओं का मिलान करने में हमारे वाराणसी-शाखा-कार्यालय के (चतुर्थ होते हुए भी) बुद्धिशील कर्मचारी श्री बृजदेव राम शास्त्री का सहयोग अवश्य ही सराहनीय रहा, तदर्थ उन्हें तथा अन्य विविध प्रकार से सहयोग के लिये यहाँ के सभी साथियों को धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। यह लेख संयोजित करने में मेरी मति की अपटुता से जो दोष आ गये हों एवं १९९९-२००१ तक में स्वयं अकेले ही किये गये सम्पादन, प्रूफ संशोधन आदि में जो त्रुटियाँ रह गई हों—उन सबके लिये स्वयं गोलोकवासिनी पू० बहिनजी (प्रेमलताजी) तथा सभी विद्वज्जनों-पाठकों के प्रति प्रणामपूर्वक क्षमायाचिनी—

श्रीशरत्-पूर्णिमा गुरुवार, २०५८
(१-११-२००१)

—ऊर्मिला शर्मा
'आम्नाय' करौंदी, वाराणसी-५